परकाय प्रवेश
तथा अन्य कहानियाँ

मूल
मास्ति वेंकटेश अय्यंगार

अनुवाद
वी० आर० नारायण



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

राष्ट्र भारती
लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक : 440

परकाय प्रवेश
तथा अन्य कहानियाँ

मास्ति वेंकटेश अय्यंगार

प्रथम संस्करण 1985

मूल्य : पैंतीस रुपये

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

मुद्रक
स्वस्तिक प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली

आवरण : हरिपाल त्यागी

PARKAYA PRAVESH TATHA ANYA KAHANIYAN (19 Stories) by Masti Venkatesh Ayyangar. Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodhi Road, New Delhi-110003. Printed by Swastik Printers, Navin Shahdara, Delhi-32. First Edition 1985. Price : Rs. 35.00

दिव्य-चेतना की सन्तान

आठ दशक पहले नवम्बर 1904 में मैसूर के एक तेरह वर्षीय किशोर के साथ घटित हुआ था यह संयोग। एक सुबह वह एक महत्त्वपूर्ण बाजार में निरुद्देश्य इधर-उधर भटक रहा था। अकस्मात् बाजार के सामने स्थित घंटाघर की घड़ी पर उसकी दृष्टि गयी और सहसा ही उसे याद आया कि अरे, आज तो उसे लोअर सेकेंडरी की परीक्षा में बैठना है। परीक्षा-केन्द्र था महाराजा कॉलेज और उस समय दस बजने वाले थे। वह धक् से रह गया। फिर भी वह दौड़कर अपने घर गया, अपना प्रवेश-पत्र उठाया और किसी प्रकार ठीक समय पर परीक्षा-भवन पहुँच ही गया। परीक्षा प्रारम्भ होने ही वाली थी। बाद में इस घटना पर सोच-विचार करते-करते, कि किस प्रेरणा ने उसकी दृष्टि घड़ी की ओर उठवा दी जिसे देखकर उसे अपनी परीक्षा का स्मरण हो आया और कैसे वह ठीक समय पर परीक्षा-भवन पहुँच गया, उसे यह विश्वास हो गया था कि इस सबके पीछे दिव्य करुणा का हाथ था।

यह घटना मास्ति वेंकटेश अय्यंगार प्रायः सुनाते है और यह है भी उन्हीं से सम्बन्धित। परम सत्ता की अनुकम्पा की गरिमा एवं बुद्धिमत्ता में मास्तिजी की असीम श्रद्धा है और वह स्वयं को उसी दिव्य-चेतना की सन्तान मानते है। वह यह मानते है कि विभिन्न अवसरों पर वह दिव्य शक्ति उनका पक्ष लेती रही है और उससे लाभान्वित होने के अनेक संस्मरण उदाहरणस्वरूप उनके पास है। परन्तु मास्तिजी की आस्था किसी सकीर्ण धार्मिक मताग्रह से सम्पृक्त नहीं है। उन्होंने बुद्ध, ईसा, मुहम्मद तथा रामकृष्ण परमहंस सभी पर पूर्ण श्रद्धा के साथ लिखा है। उनकी आस्था उन्हें नैतिक जगत् की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए उत्प्रेरित करती है जिसका हमारी संस्कृति की मनीषा से पूर्ण सामंजस्य है। यह आस्था जीवन की मूल्यवानता एवं अर्थवत्ता की ओर गतिशील रहती है और उनका लेखन मूलभूत मानव मूल्यों के प्रतिष्ठापन की उनकी अन्तःप्रेरणा का मात्र एक सवाहक बन जाता है। ये मूल्य ही तो हैं जो मनुष्य की अन्तर्निहित महत्ता को उद्घाटित करने वाली अन्तर्दृष्टि की सृष्टि करते हैं। यही कारण है कि मास्ति सोल्लास ऐसे चरित्रों की

रचना करते हैं, और अत्यधिक कुशलता के साथ करते हैं, जिनमें मनुष्य की अन्तर्दृष्टि किसी भी आवेग द्वारा धूमिल नहीं पड़ती, मनुष्य जो ऐन्द्रिय-विजय में देववत् है परन्तु फिर भी अत्यन्त मानवीय एवं करुणामय है। हमारा अभिप्राय यह संकेत करना नहीं है कि मास्ति मानव-स्वभाव के 'दूसरे पक्ष' की अवहेलना करते हैं। वह निश्चित रूप से मानव-दुर्बलता के प्रति सहानुभूति व्यक्त कर सकते हैं। किन्तु यह तो कहना ही होगा कि उनकी मूल रुचि मानव-प्रकृति की पवित्रता एवं शुभता में है। वह जीवन की पारदर्शी स्वच्छता के प्रति पूर्णतः संवेदनशील रहे हैं। मास्तिजी की अन्तर्दृष्टि मूलतः नैतिक है। उनकी चेतना परम्परा-सिंचित मूल्यों से ओतप्रोत है। मास्तिजी का यह गुण उनकी 'सांस्कृतिक जड़ों की गहराई में निष्ठा' के रूप में पहचाना गया है। उनके मंच का महत्त्वपूर्ण स्थान यशोधरा में बुद्ध, चेन्नबसवनायक में नेमय्या, भट्टारामगत में भट्टारु, वेंकटगल है इन्हीं में प्रतिष्ठित सच्चाइयों आदि के लिए सुरक्षित है। उनके गौण पात्रों तक में जीवन की कान्ति और प्रसन्नता झलकती है जो सामान्यतः समाज की पतनोन्मुखता के मध्य भी मानव जीवन के मूल्य की साग्रह पुष्टि करती है। चेन्नबसवनायक की नीलरानी मल्लिगे इस प्रकार के चरित्र-चित्रण का श्रेष्ठ उदाहरण है।"

परन्तु मास्ति यह कभी विस्मृत नहीं करते कि मनुष्य दिव्य शक्ति के उपकरण मात्र हैं। 'भाव' में वह कहते हैं : "समुद्र की लहरें लट्ठों को कूल से समुद्र में खींच लाती हैं, और इच्छानुसार दूर तक उनसे खिलवाड़ करती रहती हैं और फिर उन्हें उलट-पलट करती हुई वापस कूल पर फेंक देती हैं।" तथापि उनकी इस धारणा ने उन्हें जन-साधारण के हर्ष-विषाद के संसार में प्रवेश करने से कभी रोका नहीं। बहुत पहले उन्होंने कहा था—"ईश्वरीय हर्ष-विषाद से हमारा सम्बन्ध नहीं, हमारा सम्बन्ध तो मानवी हर्ष-विषाद से है। हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनुष्य को पोषक आस्था प्रदान करता है। एक ऐसी आस्था जो उसे जीवन के सुख-दुखों को समान भाव से स्वीकार करने की सामर्थ्य प्रदान करती है।" उनके चिंतन में यह दर्शन कभी धूमिल नहीं पड़ता। केवल इतना ही नहीं उनके लिए "साहित्य का प्रयोजन समष्टि एवं व्यष्टि के लिए मंगलकारी होना है।"

इन विशेषताओं ने मास्तिजी के लेखन को एक अद्वितीय परिपूर्णता से मंडित कर दिया है। एक प्रख्यात कन्नड़ विद्वान् एवं आलोचक ने उन्हें ठीक ही 'कन्नड़ कथा का कीर्ति' कहा है। वह तो यहाँ तक कहता है कि "मास्ति के लिए पूँजी है, कल्पना की एक अभिव्यक्त आत्मा के निर्माण

की एक वादी' है।" इस परिपक्वता की चारित्रिक विशेषता शांतचित्तता है, आवेश नही। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि मास्ति वेदना एवं यत्रणा के प्रति उदासीन है। वस्तुत: तो उनके समस्त प्रमुख पात्र, उदाहरणत: सुब्बण्णा और उसकी पत्नी ललिता, बुद्ध की अर्द्धांगिनी यशोधरा, राजसी दम्पति चिक्क वीरराजेन्द्र तथा गौरम्मा, निमय्या और उसकी पुत्री गन्तव्वा तथा गौतमी विषाद और उत्पीड़न से घनिष्ठ रूप से परिचित हैं। उनमें से प्रत्येक एक जीता-जागता इन्सान है और फिर भी एक प्रतीक है। और यह इसलिए, क्योंकि यह भूलना नही चाहिए कि वेदना के अंगीकरण के अभाव में परिपक्वता प्राप्त हो ही नही सकती। तथापि वेदना, विषाद और कुण्ठा से उत्पन्न होने वाले विकारो को आत्मा (जो कि मास्तिजी का लक्ष्य है) के सौष्ठव को प्रभावित नही करना चाहिए।" मास्तिजी के अनुसार "वेदना और उथल-पुथल के बीच भी आत्मा को सौष्ठव प्राप्त करना चाहिए।" उनकी मान्यता है कि मानव आवेश का विक्षोभ ही विनाश की ओर ले जाता है और चिक्क वीर-राजेन्द्र का यही कथानक भी है।

मास्तिजी का उल्लेख प्राय: एक स्वच्छन्दतावादी के रूप में किया जाता है। इसका किंचित् स्पष्टीकरण अपेक्षित है—मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं, आवेश एवं उत्तेजना को उन्होने अधिक महत्त्व नही दिया न ही उनमें कोई रहस्यवादी अन्तर्दृष्टि है। उनकी अन्तर्दृष्टि तो मानवी जीवन में एक पवित्र उद्देश्य पर टिकी है, अत: सौष्ठव, संयम और दिव्य चैतना उनके लेखन को अभिजात कान्ति से दीप्त कर देते है। यही वह दीप्ति है जिसने अपने अन्य समकालीनो के साथ कन्नड़ साहित्य में पुनरुत्थान युग का आविर्भाव किया।

मास्तिजी की रचनाओ का आस्वादन इसी संदर्भ में होना चाहिए। वह उन महान् कन्नड लेखकों में से हैं जिन्होने साहित्य की समृद्धि में विशिष्ट योगदान किया है। किन्तु मास्तिजी के सम्बन्ध मे सर्वाधिक उल्लेखनीय तो यह है कि उन्होने साहित्य की समस्त विधाओं—कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक, आख्यानेतर गद्य, समालोचना आदि मे समान रूप से सफलता प्राप्त की है। मात्र परिमाण ही आश्चर्यजनक है और सहज ही आदर उत्पन्न करता है। सत्तर वर्षों से भी अधिक समय में विस्तीर्ण उनकी विपुल साहित्यिक सृजनात्मकता मे हमारी सांस्कृतिक धरोहर के सर्वोत्कृष्ट और गहन मानवता तथा मानव-गरिमा मे उनकी अटूट आस्था की बहुमुखी अभिव्यक्तियों के दर्शन होते हैं।

मास्तिजी आधुनिक कन्नड कहानी के जनक के रूप मे प्रख्यात हैं।

उन्होंने अपनी प्रारम्भिक कहानियाँ 1910-11 में लिखीं और अब तक उनके 15 कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वह "एक वातावरण एवं एक जीवन-शैली की पुनर्रचना करते हैं और उनमें जीने का सहज उल्लास महक उठता है।" मास्तिजी ने उपन्यास भी लिखे हैं जिनमें उनके दो प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'चेन्नबसवनायक' और 'चिक्क वीर-राजेन्द्र' सम्मिलित हैं। पहले उपन्यास की पृष्ठभूमि अट्ठारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत की एक जागीर बिदानूर है और दूसरे उपन्यास का कथा-सूत्र कुर्ग, 1834 में जिसका शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने अधिकार में ले लिया था, के अन्तिम शासक से सम्बद्ध है। कन्नड के कुछ ही उपन्यासों में समाज और बहुमुखी सामाजिक सम्बन्धों का इन दो उपन्यासों के समान सूक्ष्म एवं गहन चित्रण हुआ है और तब भी मास्ति मात्र उत्तेजित एवं प्रेरित करने के लिए प्राचीन सामन्तवादी समाज की पुनर्सृष्टि करते हुए-से प्रतीत नहीं होते। उन्होंने तो एक राज्य के पतन एवं विघटन का अध्ययन किया है और स्वयं स्त्री-पुरुषों में भी उनके कारण खोज निकाले हैं। उनकी गद्यशैली की विशेषता शालीनता एवं संयम है। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा है। इन्हीं के कारण उनका सरल दर्शन महान अनुभव की महत्ता प्राप्त कर लेता है। मास्तिजी की शैली को न्यूनतम शब्दों में एक सम्पूर्ण अनुभव सम्प्रेषित करने की विलक्षण क्षमता प्राप्त है। दर्शन की यही विलक्षणता और शैली की यही सादगी उनके काव्य में भी व्यक्त है। नवरात्रि' एवं 'श्रीरामपट्टाभिषेक' उनके दो महत्त्वपूर्ण काव्य हैं। एक समालोचक के अनुसार "उनकी सभी कविताओं में अन्तर्लीन विनयशीलता एवं परिष्कार का रस है। शब्द-चयन सर्वत्र सरल है और भाषा शब्दकोशीय एकरूपता तथा उनमें मेल बिठाने, दोनों ही दृष्टियों से दैनन्दिन जीवन की भाषा के निकट है।"

साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी मास्तिजी का योगदान प्रमुख है। जब आधुनिक कन्नड साहित्य और साहित्य-समीक्षा अपनी शैशवावस्था में थे, "उन्होंने साहित्य के महत्त्व को पहचाना और इस बात पर बल दिया कि इसका मूल्यांकन साहित्यिक सृजनात्मकता के रूप में किया जाना चाहिए, धर्म अथवा दर्शन के रूप में नहीं।" हो सकता है कि उनकी साहित्य सम्बन्धी कतिपय उक्तियों से हम सहमत न भी हों तब भी उनकी इस आधारभूत धारणा को बेशक स्वीकारेंगे कि "सत्साहित्य को व्यक्ति का परिष्करण और समाज को मार्ग प्रदान करना चाहिए।" और उनकी रचनाओं का यही संदेश भी है।

—बिशन टंडन

निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ

अनुवादकीय

कन्नड़ साहित्य का यह सौभाग्य रहा है कि ऐसे कई लेखकों ने कन्नड में मौलिक साहित्य का सृजन किया, जिनकी मातृभाषा कन्नड नही थी। स्वर्गीय राष्ट्रकवि दा० रा० बेन्द्रे की मातृभाषा मराठी थी, परन्तु उन्होंने कनन्ड में सर्वश्रेष्ठ साहित्य का सृजन किया। उनकी अमर कविता के कारण उन्हे ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। सफल कवि और नाटककार स्वर्गीय राजरत्नम् की मातृभाषा तमिल थी। उन्हे कन्नड़ साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष चुनकर कन्नड-भाषियों ने उनकी महान् सेवा के प्रति अपना सम्मान व्यक्त किया। इस वर्ष ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित श्री मास्ति वेंकटेश अय्यंगार की मातृभाषा भी तमिल है, परन्तु आधुनिक कन्नड के सर्वागीण साहित्य की श्रीवृद्धि में उनका सबसे अधिक योगदान रहा है। वह सत्तर वर्ष से कन्नड साहित्य की सेवा में लगे हुए है। साहित्य की ऐसी कोई विधा नही है जिसे मास्तिजी ने अपनी अमर लेखनी से निखारा न हो। भारत की सभी भाषाओं के लिए उनके मन में समान गौरव है। एक बार यह पूछने पर कि आप घर में कौन-सी भाषा बोलते है, उत्तर मे उन्होने कहा :

"हमारा गाँव मास्ति है जो कोलार जिले में है। वहाँ से थोड़ी दूरी से मद्रास प्रान्त शुरू हो जाता है। हमारे गाँव में एक सड़क पर कन्नड़, दूसरी पर तेलुगू और तीसरी पर तमिल बोली जाती है, पर सभी आपस मे भाइयों के समान रहते हैं। इसी प्रकार हमारे देश के सभी भाषा-भाषियों को एक-दूसरे से मिलकर रहना चाहिए, तभी देश सुन्दर बन सकता है। भाषा को चाहिए कि लोगो को पास लाये न कि एक को दूसरे से अलग करे।"

मैंने बहुत पहले लिखा था : "देश और भाषा को समृद्ध करने वाले मास्तिजी केवल कन्नड की ही नही अपितु भारत की एक अमूल्य निधि है।" भारतीय ज्ञानपीठ ने इस वर्ष उन्हे पुरस्कृत करके उनकी साहित्य-प्रतिभा और सेवा के प्रति आदर दिखाया है। ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले कन्नड के साहित्यकारो मे वह चौथे न होकर यदि पहले होते तो और भी शोभनीय होता।

आधुनिक कन्नड नाटक के जन्मदाता टी. पी. कैलासम की मातृभाषा तमिल थी पर उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा से कन्नड नाटक को एक दिशा प्रदान की।

मास्तिजी का जन्म एक गरीब किन्तु सुसंस्कृत अय्यंगार परिवार में मास्ति ग्राम में हुआ। उनका नाम वेंकटेश अय्यंगार रखा गया। उन्होंने अपना काव्य-नाम श्रीनिवास रखा। परन्तु समस्त कर्नाटक में वह मास्ति जी के नाम से प्रसिद्ध हैं। मास्ति जी का जन्म 6 जून, 1891 को हुआ था। बचपन से ही वह मेधावी और अध्ययनशील थे, अतः पढ़ाई में सदा प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। यहाँ तक कि एम० ए० (अंग्रेजी) और सिविल सर्विस की परीक्षा में भी प्रथम रहे। वह इतने गरीब थे कि सिविल सर्विस में प्रथम आने की खबर अपने ससुर को पहुँचाने के लिए, किराए की साइकिल पर 70 मील की सवारी की। उन्होंने सन् 1914 में असिस्टेंट कमिश्नर पद से सरकारी सेवा शुरू की और सन् 1943 तक सरकार के सर्वोच्च पद तक पहुँच गये; पर समय आने पर उन्हें दीवान नहीं बनाया गया। आत्म-सम्मान को ठेस लगने से वह स्वेच्छा से सेवा निवृत्त हो गये। तब से अपनी 65 वर्ष पुरानी कोठी में बंगलोर के गवीपुर (एक्सटेंशन) में रह रहे हैं। उनके घर तक पहुँचने के लिए किसी से पता पूछने की जरूरत नहीं है। गवीपुर में कोई भी बच्चा मास्ति ताता (नाना) का घर बता सकता है। घर में घुसते ही एक तोता आपका स्वागत करेगा। घंटी बजाते ही आमतौर पर मास्ति जी ही मुस्कराते आपका स्वागत करेंगे। वह 94वें वर्ष में कदम रखने पर भी आज भी स्वस्थ हैं। वह अपना दैनिक कार्य यथाप्रकार चलाते हैं। लगभग शाम के चार बजे सफेद-पतलून एक मोटा-सा ओवरकोट कन्धे पर रखे अकेले 'बसवनगुडी क्लब' जाते मिल जाते हैं और या शाम के समय किसी न किसी सांस्कृतिक कार्यक्रम में पहली पंक्ति में बैठे मिल जाते हैं। अपनी टोपी से वह दूर से पहचान में आ जाते हैं। उनके माथे पर सदा लाल नामा तिलक शोभा देता रहता है। वह आज भी रेडियो सुनते हैं, दूरदर्शन देखते हैं, बिना नागा अखबार पढ़ते हैं और राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर सटीक टिप्पणी करते हैं। कर्नाटक का कोई साहित्यकार नहीं जो बड़ा आज उनके सम्मुख अपना सिर न नवाता हो। मैथिलीशरण गुप्त जी के जमाने में हिन्दी वालों के लिए जैसा [illegible] था वैसा ही कन्नड वालों के लिए [illegible] है। उन्हें देखने से एकदम श्री माखनलाल चतुर्वेदी की याद हो आती है।

विद्यार्थी जीवन से ही मास्ति जी ने कन्नड और अंग्रेजी में लिखना

आरम्भ कर दिया था। एक तमिल भाषी और अंग्रेजी मे एम० ए० तथा सिविल सर्विस के उच्च अधिकारी को कन्नड़ मे लिखते देखकर उस जमाने में लोग उनका मजाक उडाया करते थे। फिर भी कन्नड़ के प्रति उनका मोह कम नही हुआ। उनका कथन है—

"जब मैंने कन्नड में काम आरम्भ किया तब लोगो मे अंग्रेजी का मोह कम नही हुआ था। मेरी बात की ओर लोगो ने कान नही दिये, फिर भी मैंने बुरा नही माना। मुसलमानों में मुअज्जन होता है। प्रात. होते ही अजान देकर नमाज के लिए लोगों को जगाना उसका काम होता है। वह यह नही कह सकता कि मेरे जगाने पर ज्यादा लोग जागे नही। सोये हुए को जगाना ही उसका काम होता है। कर्नाटक में मैंने मुअज्जन का काम किया है।"

सरकारी कार्य से निवृत्त होने के बाद पच्चीस वर्ष तक उन्होने 'जीवन' मासिक पत्रिका का सपादन किया। अपने उदारहस्त से कन्नड की सूखती प्रतिभाओ को बचाया। स्वर्गीय दा० रा० बेन्द्रे, राजरत्नम् जैसी महान् प्रतिभाओ को आगे बढाने मे उनका विशेष हाथ रहा है। वह जो भी सहायता करते उसकी दाहिने हाथ की बाये हाथ की तरह, किसी को खबर नही होती थी।

मास्ति जी ने कन्नड़ परिषद् के अध्यक्ष के रूप मे समस्त कर्नाटक का भ्रमण करके लोगों मे कन्नड और देशी भाषाओं के प्रति अलख जगाई। उन्हे भारतीय संस्कृति के प्रति बडा अनुराग है।

मास्ति जी की प्रथम कहानी 'रगप्पा की शादी' सन् 1910 मे प्रकाशित हुई। उनका प्रथम कहानी-संकलन 1918-19 में प्रकाशित हुआ। अब तक उनकी सौ से ज्यादा कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी है। कुल पन्द्रह संकलन निकल चुके है। अंतिम सकलन चार साल पहले निकला और बारहवे और तेरहवें सकलन पर उन्हे 1966 मे साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। वह आजकल भी कहानियाँ लिखते हैं। कुछ मास पूर्व भी उनकी एक कहानी प्रकाशित हुई है। 1920 से लेकर अब तक देश-विदेश में उनकी कहानियो के अनुवाद प्रकाशित हो रहे है।

मास्ति जी आदर्शवादी कहानीकार नही है। उनका आदर्श कभी भी साहित्यिक सीमा का उल्लंघन नही करता। कन्नड़ मे सबसे कम उपदेश मास्ति जी की कहानियो मे है, परन्तु निराडम्बर शैली मे जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करना उनकी विशेषता है। शायद इसीलिए अब भी उनकी कहानियाँ उतनी ही जनप्रिय है जितनी चालीस-पचास वर्ष पहले थी। कई कहानियाँ कन्नड की क्लासिक मानी जाती हैं। 'कहानी कही

सोनम्मा ने' एवं 'हेमकूट से लौटने पर'—इन दोनों की कथावस्तु ऐसी है जिसकी ओर भारत के किसी साहित्यकार का ध्यान ही नहीं गया। मास्तिजी यदि साहित्य की किसी विधा को न लेकर अपनी कहानियों तक ही सीमित रहते तो भी वह भारतीय साहित्य में अमर रहते। उनकी एक कहानी 'दरबार प्रवेश' को राजगोपालाचारी ने भी अत्यधिक पसन्द किया।

1972 में मास्ति जी के जीवन और साहित्य पर 760 पृष्ठों का एक बृहद् ग्रंथ तैयार किया गया था। उसी समय यह हिसाब लगाया गया था कि उनका साहित्य 2500 पृष्ठों से ज्यादा है। उनकी जीवनी (भाव) ही 1375 पृष्ठों में है।

मास्ति जी कभी किसी का विरोध नहीं करते। तमिल भाषी और राजा जी के बड़े प्रशंसक होने पर भी उन्होंने हिन्दी का कभी विरोध नहीं किया। मैं बीस साल से उनके साहित्य के कुछ न कुछ का हिन्दी में अनुवाद करता आ रहा हूँ। प्रतिवर्ष उनके दर्शनों का सौभाग्य मुझे मिलता है। इस दौरान उन्होंने हिन्दी का कभी विरोध नहीं किया। त्रिभाषा फार्मूले में उनकी आस्था है। हिन्दी के बारे में 1920 में कन्नड साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था, "प्रत्येक प्रान्त को अपनी भाषा के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके साथ इस विशाल संसार के साथ सम्पर्क रहने दो और एक भाषा होनी चाहिए। वह आज की स्थिति में अंग्रेजी ही हो सकती है। हिन्दी राजनीतिक दृष्टि से हमारे लिए उपयोगी हो सकती है पर कन्नड के लिए वह एक नयी दुनिया दिखा नहीं सकती। यही कारण है कि हम अंग्रेजी छोड़ नहीं सकते। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से हिन्दी जितनी जरूरी है उतनी अवश्य ही सीखनी चाहिए।" मेरे विचार में सबके भाषा के सिद्धान्त का मूल अभिप्राय यही है।

—बी आर. नारायण

कथा-क्रम

परकाय प्रवेश

तथा अन्य कहानियाँ

रंगप्पा की शादी

• यह शीर्षक पढकर आप में से कोई यह पूछ सकते हैं क्यों भई, 'रंगनाथ का विवाह' अथवा 'रंगनाथ की विजय' न कहकर, यह क्या नाम रख दिया! जी हाँ, 'जगन्नाथ की विजय,' 'गिरिजा कल्याण' की भाँति 'श्री रंगनाथ की विजय जैसा एक भारी भरकम सा नाम रखा जा सकता था। यह बात नही, कि यह मेरे ध्यान में नही आया हो; पर देखिए यह जगन्नाथ की विजय भी नही है और गिरिजा कल्याण भी नही है, यह तो हमारे गाँव के रंगा की शादी है; इसलिए ऐसा नाम रखा।

हमारा गाँव होसहल्ली है। उसका नाम आप लोगों ने सुना होगा न? नही? ओह बेचारे! यह आप का दोष नही। भूगोल की पुस्तक में उसका नाम नही है। इगलैंड में रहने वाले अँग्रेजो में भूगोल लिखने वाले साहब को होस-हल्ली का पता कैसे होगा? इसलिए उसने छोड दिया होगा। लेकिन असल में बात यह है कि जब हमारे लोग भूगोल लिखेंगे, वे भी होसहल्ली भूल जायेंगे। खैर, यह तो भेड़ चाल है। सब एक के पीछे एक आँख खोल कर ही गिरते है। इंगलंड के साहब और हमारे ग्रंथकार यदि उसे भूल जायें तो बेचारा नक्शा बनाने वाला क्या उसे याद रखेगा? नक्शे में तो उसका नाम-निशान भी नही।

अरे! मैंने क्या शुरू किया था और क्या कहने लग गया। क्षमा कीजिए। भारत में मैसूर दावत में गुझिया की भाँति है। मैसूर में होसहल्ली गुझिया में भरे मसाले की भाँति है। ये दोनो बातें निःसंदेह सत्य है। आप सैंकड़ो

बातें कह सकते हैं, मैं मना नहीं करता। पर यह बात तो सच है कि होसहल्ली का मैं ही अकेला प्रवासी नहीं। हमारे गाँव में एक वैद्य हैं। उनका नाम गुंडा भट्ट है। उनका भी यही कहना है। उन्होंने ज़रा दुनिया देखी है। इसका मतलब यह नहीं कि वे विलायत हो आये हैं। आजकल के लड़के अगर यह पूछते हैं कि "आपने विलायत देखा है?" तो वे कहते हैं, "नहीं भइया! वह तो मैंने तुम्हारे लिए छोड़ दिया है। एक जगह न रहकर सारी दुनिया में पागल कुत्ते की तरह चक्कर काटना तुम्हें ही मुबारक। हाँ, मैं थोड़ा बहुत अपने देश में घूम आया हूँ।" उन्होंने भी बहुत से गाँव देखे हैं।

हमारे गाँव के सामने ही एक अमराई है। एक दिन कृपा कर हमारे गाँव पधारिए। एक अमिया दूँगा, खा कर देखिए। अरे बाबा, खाने की ज़रूरत नहीं, चखिए भी मत, सूँघकर देखिए। उसकी खटास कपाल तक चढ़ जायेगी। एक बार मैं वह अमिया ले आया। घर में उसकी चटनी बनी। सबने खायी। अरे भई! सभी को खाँसी का शिकार हो जाना चाहिए था क्या? दवा के लिए वैद्य के पास जाना पड़ा। तब उन्होंने यह बात कही।

यह अमिया जितनी बढ़िया है उतनी ही हमारे गाँव की और उसके पास की हर चीज़ बढ़िया है। हमारे गाँव की बावड़ी के पानी के स्वाद के क्या कहने! उस बावड़ी में कमल की बेल है। देखने में फूल बड़े सुन्दर हैं। खाने को पत्तल न मिल पाये तो दोपहर में स्नान करने के बाद दो पत्ते तोड़कर ले आने से काम चल जाता है। इससे पत्तल बनाने का झंझट ही नहीं। आप सोचेंगे कि मैं कहाँ-कहाँ की बातें ले बैठा। क्या करूँ! गाँव की बात उठते ही ऐसा होता है। खैर जाने दीजिए। अब उस प्रसंग को यहीं बंद करता हूँ। अगर आप में से किसी को हमारे गाँव आने की इच्छा हो तो मुझे एक पत्र लिख दीजिए। होसहल्ली कहाँ है, कैसे पहुँचना है, यह सब लिख दूँगा। बाद में आप आसानी से आ सकते हैं। जो भी हो सुनने से देखना ही श्रेष्ठ है न?

मैं अब से कोई दस साल पुरानी बात कह रहा हूँ। तब हमारे गाँव में अँग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती थी। करणीक महोदय ने ही पहली बार हिम्मत करके अपने बेटे को बंगलौर में अँग्रेज़ी पढ़ने के लिए भेजा था। अब क्या है, अब तो ऐसे बहुत हैं। छुट्टियों के दिनों में तो गलियों में अँग्रेज़ी में गिटपिट करने वाले मिल जाते हैं। पहले तो कहीं भी कोई गिटपिट करने वाला नहीं मिलता था। लोग कन्नड़ बोलते समय भी अँग्रेज़ी के शब्द नहीं मिलाते थे। वह हास्यास्पद हो जाता था। आजकल तो ऐसा ही है। चार दिन पहले, रामराव के घर वालों ने एक ककड़ी का टुकड़ा लिया। उसका पैसा देने आया। उसने ककड़ी वाली से पूछा, "कितने पैसे हुए?" पूछ कर वह बोली, "आप आगे दीजिए।" तब रामराव का बेटा 'क्या नहीं

है। कल ले जाना," कहकर भीतर चला गया। उस बेचारी को उसकी बात ही नमझ में नहीं आयी। वह भुनभुनाती चली गयी। उस समय मैं वहीं खडा था, बात मेरी समझ मे भी नही आयी। बाद में रंगा के घर जाकर रंगा से पूछा। उसने 'चेंज' माने चिल्लर बताया।

इस प्रकार की अमूल्य अँग्रेजी भाषा उन दिनो हमारे गाँव में प्रचलित नहीं थी। इसलिए रंगा के बंगलौर से गाँव लौटने पर सारे गाँव वाले—"करणीक का लडका गाँव आया है।" "अरे बगलौर से पढ लिखकर आया है।" "अरे रंगा आया है। चलो। देखने चलो। कहकर सब उसके दरवाजे पर जमा हो गये। लोगों की भीड का क्या कहूँ! मैं भी उनके आँगन मे जाकर खड़ा हो गया। लोगो की भीड देखकर मैंने पूछा, "ये सब यहाँ क्यो आये है। क्या यहाँ कोई बन्दर का नाच हो रहा है?" वहाँ एक लडका था जिसे जरा भी अक्ल नही थी। "तुम क्यों आये हो?" कहकर उसने उन लोगो के सामने मुझसे पूछ ही डाला। वह एकदम छोकरा था। मान-मर्यादा की गध तक न जानता था। मैं यह सोचकर चुप हो गया कि वह पुराने जमाने के रीति रिवाजो से एकदम अनभिज्ञ है।

इतने लोगो को देखते ही रगा बाहर आया। यदि हम सब कमरे मे घुस जाते तो कलकत्ता की काल कोठरी मे जो हुआ था वह यहाँ भी हो जाता। भगवान् की कृपा से ऐसा होने से बच गया। रगा के बाहर आते ही सबको अचरज हुआ। छः मास पूर्व हमारे गाँव से जाते समय वह जैसा था उस दिन भी वैसा ही था। एक बुढिया उसके पास ही आ खडी हुई थी। उसने उसकी छाती पर हाथ फेर कर ध्यान से देखा।"जनेउ अब भी है। जाति भिरस्ट नही हुआ," कहकर चली गयी। रगा हँस पडा।

रंगा के पास पहले की तरह ही हाथ, पैर, आँख, नाक थे। यह देखकर वहाँ से लोगो की भीड ऐसे विलीन हो गयी जैसे बच्चे के मुँह मे मिश्री घुल जाती है। मैं खड़ा ही रहा। सबके चले जाने के बाद मैने पूछा, "कहो भाई रंगप्पा, कैसे हो?" तब रंगा का ध्यान मेरी ओर गया। पास आकर नमस्कार करके बोला, "आपके आशीर्वाद से सब ठीक है।"

रंगा में और एक बडा गुण है। वह जानता है कि किससे बात करने से क्या लाभ होता है। लोगो की कीमत वह अच्छी तरह जानता है। नमस्कार भी उसने आजकल के लड़को की भाँति मुँह आसमान की ओर करके, अकडकर यों ही हाथ जोड़कर नही किया। बल्कि जमीन पर झुककर, मेरे पाँव छूकर, नमस्कार किया। मैं "शीघ्रमेव विवाहमस्तु" कहकर आशीर्वाद देकर घर चला आया।

दोपहर को जब मैं भोजन करके लेटा था तब रंगा हाथ मे दो संतरे लिये हमारे घर आया। वह बडा ही परोपकारी, बडा उदार है। मैंने सोचा कि अगर

उनकी शादी हो जाए तो वह एक अच्छा गृहस्थ बनेगा, चार लोगों के काम आयेगा।

ज़रा देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद मैंने पूछा, "रंगण्णा तुम शादी कब करोगे ?"

रंगा : "मैं अभी शादी नहीं करूँगा।"

"क्यों भैया ?"

रंगा : "मेरे लायक़ लड़की भी तो मिलनी चाहिए न ! हमारे एक साहब हैं। उन्होंने अभी छः महीने पहले शादी की है। वे करीब तीस साल के हैं। उनकी पत्नी शायद पच्चीस की है। मान लीजिए मैं एक छोटी लड़की से शादी कर लूँ और उससे मैं कोई प्रेम की बात करूँ तो वह उसे गाली ही समझेगी। बंगलोर की एक नाटक मंडली ने 'शकुन्तला' नाटक खेला। शकुन्तला आजकल की तरह शादी करने वाली लड़कियों के समान छोटी आयु की होती तो दुष्यन्त के प्रेम की बात समझ न पाती। कालिदास के नाटक का क्या मज़ा आता ? शादी करनी हो तो ज़रा बड़ी लड़की से ही करनी चाहिए। नहीं तो चुपचाप रह जाना चाहिए। इसीलिए मैं अभी शादी करना नहीं चाहता।"

"और कोई कारण है क्या ?"

रंगा : "हमें अपने आप लड़की को चुनने का मौक़ा होना चाहिए। हम कैसा कर सकते हैं। बड़ों की बात पर यदि हम 'हाँ' कर दें और वे अँगूठा चूसने वाली लड़की लाकर सामने खड़ी कर दें तो भला कैसे मान लें ?"

"एक तो करेला दूसरे नीम चढ़ा ऐसा होगा न ?"

रंगा : (हँसते हुए) "एग्ज़ैक्टली ! हाँ एकदम।"

मैंने सोचा था कि जल्दी से इस लड़के की शादी कर दी जाय तो अच्छा गृहस्थ बनेगा। पर यह तो आजीवन ब्रह्मचारी बना रहना चाहता है। यह देख कर मैं बहुत व्याकुल हो उठा। कुछ देर बात करने के बाद मैंने रंगा को भेज दिया। बाद में प्रतिज्ञा की, इस लड़के की जल्दी से शादी करा डालनी है।

हमारे रामराव के घर उनकी भांजी आयी हुई थी। लड़की ग्यारह बरस की थी और सुन्दर थी। बड़े शहर में रहने के कारण थोड़ा हारमोनियम और वीणा बजा लेती थी। गला बहुत ही मधुर था। माता-पिता के गुज़र जाने के कारण मामा उसे अपने घर ले आया था। उसके योग्य वर रंगा ही था। वह भी रंगा के लिए उपयुक्त कन्या थी।

मैं अक्सर रामराव के घर आना-जाना करता था। वह बच्ची मुझसे हिली-मिली हुई थी। अरे उस लड़की का नाम बताना ही भूल गया। उसका नाम रत्ना था। अगले दिन शाम, रामराव के घर जाकर मैंने उनकी पत्नी से कहा, "शाम को गाने के लिए ज़रा रत्ना को हमारे घर भेज दीजिए।"

रत्ना आयी। शुक्रवार का दिन होने से उसने अच्छी सी साडी पहन रखी थी। उसे कमरे में बैठाकर मैंने कहा, "बहिन, अच्छा सा एक गाना तो सुना दे।" तब रंगा को भी बुला भेजा था। रत्ना जब अपने सुमधुर कण्ठ से "कान्ह बसो मोरे नैनन में" गा रही थी तो रंगा पहुँचा। दरवाजे पर पहुँचते ही उसे डर लगा कि दहलीज पर पाँव रखते ही गीत बंद हो जाएगा। पर उसने धीरे से दरवाज़े से झाँककर देखा। उसकी छाया पड़ने से रत्ना ने दरवाजे की ओर देखा। अपरिचित को देखते ही उसने गाना रोक दिया।

बढिया आम खरीदकर खाते समय तनिक सा भी बेकार न जाय; पैसे लगे हैं; सोचकर जब ज़रा छिलका चखकर स्वाद देखकर, बाकी का खाने का प्रयास करने में पूरा आम हाथ से फिसल कर धरती पर जा गिरे तो आप की जो मनस्थिति होगी वही स्थिति रंगा की हुई। "आपने बुलाया था ?" कहकर वह भीतर आकर कुर्सी पर बैठ गया।

रत्ना सिर झुकाए दूर जा खडी हुई। रंगा ने बार-बार उसकी ओर देखा। एक बार जब वह उसकी ओर देख रहा था तब उससे उसकी नजर टकरा गयी। उसे बडा अपमान सा अनुभव हुआ होगा। काफी देर तक कोई भी कुछ न बोला। बाद में रगा ने ही पहल की और बोला, "मेरे आते ही गाना बन्द हो गया। इसलिए मैं चलता हूँ।" उसने यह बात खाली मुँह से ही कही पर भलामानस कुर्सी छोडकर हिला तक नही। कलियुग में त्रिकर्ण शुद्धि भला है ही कहाँ ?

रत्ना लजाकर घर के भीतर भाग गयी।

थोडी देर मूक से बैठे रगा ने पूछा, "वह लड़की कौन है भाई साहब ?"

गुफा मे घुसे बकरे की आहट सुनकर शेर ने बाहर से पूछा, "भीतर कौन है ?" बकरे ने भीतर से जवाब दिया, "कोई भी हो तो क्या ? मैं एक गरीब जानवर हूँ। सिर्फ नौ नर शेर खा चुका हूँ, एक और चाहता हूँ। तुम नर हो या मादा ?" उसे सुन शेर भाग लिया। उसी बकरे की तरह मैंने कहा, "कोई भी हो तो क्या ? तुम्हारे और मेरे लिए बेकार है। मेरी शादी हो चुकी है और तुम्हे शादी करनी नही है।"

इस पर रंगा ने बडी लालसा से पूछा, "क्या अभी उस लडकी की शादी नहीं हुई ?" मन में इच्छा है यह उसने दिखाया तो नहीं पर, मैं समझ गया।

मैंने कहा, "हो गयी है। साल भर हो गया।"

यह सुनकर रंगा का मुँह भुने बैंगन जैसा हो गया। थोडी देर बाद रंगा बोला, "मुझे कुछ काम है, चलता हूँ।"

अगले दिन मैंने अपने पुरोहित जी से जाकर कहा, "कल मैं आपसे ज्योतिष पूछने आऊँगा। आवश्यक सामग्री तैयार रखे रहिएगा।" इसके साथ ही उनके कान में एक बात और भी फुसफुसा कर आया। दोपहर को रंगा को देखा तो

उसका मुँह वैसा ही लटका हुआ था। मैंने ही पूछा, "क्या बात है भई? मालूम पड़ता है किसी सोच में डूबे हो?"

"ऐसी कोई बात नहीं है, यों ही।"

"सिर दर्द है क्या? चलो वैद्य के यहाँ हो आयें।"

"सिर दर्द नहीं है। मैं रहता ही ऐसा हूँ।"

"जब मेरी शादी की बात चल रही थी तब सब निश्चित होने तक मैं भी ऐसा ही रहा करता था। तुम्हारे साथ तो वैसी कोई बात नहीं है न?"

रमा ने मेरी ओर घूरकर देखा।

मैंने कहा, "चलो जरा शास्त्रीजी के पास हो आयें। तुम्हारी ग्रह-गति का ही जरा पता लगा आयें।" रमा बिना कुछ सोचे उठकर खड़ा हो गया।

हम दोनों शास्त्रीजी के घर पहुँचे। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्यों, क्या बात है श्याम? तुम्हारे दर्शन भी दुर्लभ हो गये।"

श्याम यह कहानी बताने वाला आप का दास है।

उसका ढंग देखकर मुझे बड़ा क्रोध आया। मैं—'अरे! यह कैसी बात करते हो, आज ही तो'—कहना ही चाहता था पर शास्त्रीजी ने, "जरा अब अवकाश मिला होगा। कोई काम है क्या?" कहकर बात सँभाल ली, नहीं तो मैं एक मूर्ख की तरह 'अरे आज सुबह ही मिला था' कहकर सारा गुड़-गोबर करने जा रहा था। बाद में मैंने अपने को सँभाल लिया।

"हमारे कुटीर में कुमार कैसे पधारे? क्या चाहिए था? यह तो हमारे घर आते ही नहीं।" इत्यादि व्यावहारिक बातें हुईं।

"तुम अपनी पोथी तो खोलो। हमारा रत्ना बड़ी चिन्ता में पड़ गया है। उसका क्या कारण है क्या यह बता सकते हो? जरा तुम्हारे ज्योतिष शास्त्र की भी परीक्षा हो जाए।" मैंने यह बात बड़े दर्प से कही। शास्त्री ने दो कागज, दो कौड़ियाँ, एक सार पुस्तक आदि लेकर—"अरे भई यह तो अनादि शास्त्र है। इसकी भी एक कहानी है"—कहकर उन्होंने एक कहानी सुनाई। वह कहानी मैं यहाँ नहीं बताऊँगा। इस कथा में यह कथा जोड़ना ठीक नहीं। यह कोई पुराण थोड़ा ही है। इसके अलावा आप ऊब भी जायेंगे और कोई मौका मिलेगा तब मैं वह बताऊँगा।

शास्त्रीजी ने होंठ हिलाते हुए उँगलियों पर कुछ गिनते हुए रत्ना से पूछा, "आप का नक्षत्र कौन सा है?" यह रत्ना को मालूम न था। शास्त्रीजी ने, "कोई बात नहीं" कहते हुए सिर हिलाकर [illegible] बोले। [illegible] लिख-लिखा कर कहा—'कन्या के विवाह में विघ्न है।'" उसका यह भेद देखकर मैं अपनी हँसी रोक नहीं पा रहा था। फिर भी मैं अपनी हँसी रोके बैठा था। उसकी बातें पूरी होते ही [illegible] कहा, "क्या बात है रत्ना? मेरी बात ही नहीं

निकल रही है।"

"वह कन्या कौन है ?" यह बात पूछने वाला मैं आपका दास था।

कुछ सोचकर वे बोले, "सागर में मिलने वाले पदार्थ के नाम की लड़की होनी चाहिए।"

"क्या उसका नाम कमल हो सकता है ?"

"हो सकता है।"

"काई हो सकती है ?"

"यदि कमल न हो तो, काई क्या ? मोती और रत्न···?"

"रत्न ? रामराय के घर में एक रत्ना नाम की लड़की आयी है। ख़ैर इस बात को रहने दीजिए, कन्या लाभ तो होगा न ?"

फिर जरा सोचकर वे बोले, "होगा।"

रंगा हैरान हो गया। उसमें जरा सन्तोष भी था। मैंने वह देखकर कहा, "उसकी तो शादी हो चुकी है।" यह कहकर मैंने रंगा की ओर मुड़कर देखा। बेचारे का मुँह उतर गया था।

शास्त्रीजी बोले, "यह सब मैं नहीं जानता और कोई हो सकती है। मैंने तो शास्त्र की बात दोहराई है।"

हम वहाँ से चल पड़े। लौटते समय रामराय के घर के दरवाजे पर रत्ना खड़ी थी। उसे देखकर मैं उनके घर के भीतर जाकर पुन: लौट आया। आते ही मैंने कहा, "कैसी अचरज की बात है। इस लड़की की अभी शादी नहीं हुई है। मुझसे किसी ने उस दिन बताया था कि हो चुकी है। अब शास्त्र की बात भी सही लगती है न रंगप्पा ? मुझे ऐसा नहीं लगता कि तुम उस लड़की के बारे में सोच रहे थे। हाँ बताओ मध्वाचार्य की कसम खा कर बताओ ? मुझसे कोई बात छुपाना नहीं। उनकी कही सारी बात सच है कि नहीं ?"

मैं कह नहीं सकता कि अगर कोई और होता तो वह बात ही बता देता। उसने कहा, "शास्त्र की बात में ज्यादा सच्चाई है। उन्होंने जो कहा सब सच है ?"

उस दिन शाम को शास्त्रीजी कुएँ पर आये थे। मैं भी गया था। तब मैंने कहा, "अरे शास्त्रीजी, मैंने जो कुछ कहने के लिए कहा था आपने तो उससे ज्यादा कह दिया और उसके मन में जरा भी सन्देह पैदा नहीं हुआ। आपके शास्त्र का भी क्या कहे !" शास्त्रीजी बोले, "आपने भला क्या बताया था ? जो शास्त्र के आधार पर पता लगाया जा सकता था, उसी को तो आपने भी बताया था। आपने ठीक ही बताया था। मैंने उसी को दोहराया।" यही तो है न समझ दारों का काम।

परसों रंगप्पा ने मुझे घर पर भोजन के लिए बुलाया था। मैंने पूछा, "आज

ऐसा क्या विशेष है ?"

"श्याम का जन्मदिन है। आज उसकी चौथी वर्षगाँठ है।"

"अरे भैया, 'श्याम' नाम बहुत अच्छा नहीं। मैं तो एकदम कोल्हू की लकड़ी जैसा काला कलूटा हूँ। उस चाँद से बच्चे का नाम मेरे नाम पर क्यों रखा ? तुम्हारे और रत्ना के बचपने का क्या कहें। अंग्रेजों का तरीका ऐसा होता है।[1] अगर तुम्हारी पत्नी का अब आठवाँ महीना चल रहा है तो माँ को साथ क्यों नहीं लाये ?"

"दीदी और माँ दोनों आयी हैं।"

मैं खाने पर गया था। जाते ही श्याम आकर मेरे पाँव पर पड़ा। वह मेरी पीठ पर बैठना चाहता था। मैंने उसे गोद में उठा लिया। उसके गाल चूमकर उसकी बायीं उँगली में एक अँगूठी पहनाई।

अब आप कृपा करके अपने दास को आज्ञा दीजिए। मैं तो आपकी सेवा के लिए सदा तैयार हूँ। आप ऊब तो नहीं गये न ?

(प्रकाशन वर्ष : 1911)

1 [illegible]

एक पुरानी कहानी

●● आषाढ़ मास की पूर्णिमा से कुछ पहले का एक दिन, साँझ का समय था। सूर्य सारा दिन तपने के बाद बादलों के पीछे छिप-छिप कर, क्रीड़ा करते-करते हार कर पश्चिम दिशा में जा पहुँचा था। बादल वायु के चक्कर में फँस कर सारे आकाश का चक्कर लगा कर यह खोज रहे थे कि कहीं छिपने को जगह मिल जाय। बकरियों के रेवड को केवल अपने खेल के लिए तितर-बितर कर देने वाले बालक की तरह वायु सारा दिन ज़रा सुस्ता कर और ज़रा खेलकर संध्या हो जाने से चुप रह गयी थी। अब खेल का समय न होने से नदी तीर के बड़े-बड़े वृक्षों के समीप वह शान्त हो कर वह रही थी। सूर्य ने भी अब मानो 'खेल-कूद बहुत हो गया अब तो थोडा बहुत काम करना चाहिए' सोचकर बादलों से छुट्टी लेकर अपनी कर्मठता का परिचय देते हुए अपनी प्रखर किरणों से सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करके अपनी प्रभा के सौन्दर्य में डुबो दिया। वायु गम्भीर हो उठी। सूर्य भी गम्भीर हो चला था। कर्त्तव्य उन्मुख होने से दोनों शान्त थे। नदी किनारे की अमराई झुक-झुक कर ब्रह्माण्ड को मर्मर के उद्घोष से आप्लावित कर रही थी। नदी का जल आरम्भ में राह में पडने वाले छोटे-बड़े पत्थर का ध्यान न करके क्रीड़ा करते हुए बहने के बाद फैल गया था। अतः नदी में भी गम्भीरता आ गयी थी। वह सागर की ओर बही जा रही थी। फिर भी केवल प्रयाण में निमग्न न थी। अब वह सर्वदा कर्त्तव्योन्मुख था। उसमें बड़प्पन की गम्भीरता आ जाने पर भी उसे थोड़ा बहुत खेल नहीं

चाहिए क्या ? इधर-उधर ज़रा चक्कर काटना, ज़रा नाचना, मधुर-मधुर कल-कल निनाद करना, यह खेल तो थे ही। उस नदी पर, नदी की समीपवर्ती अमराई पर दूर दीखने वाले गाँव पर सूर्य की किरणें जगमगा रही थी। ऐसा लगता था मानो सूर्यदेव, उस गाँव को, ग्रामवासियों को, गोचर से लौटते ढोरों को माँओ के लिए रंभाते बछडो को उनके उस सौंदर्य से प्रभावित होकर 'उन्हें छोड़ दूँ या नहीं' इस असमंजस मे पड़े थे। सारे संसार में शान्ति का साम्राज्य छा गया था।

इस सब को निहारते और शान्ति से परिपूर्ण सुख का अनुभव करते नदी तीर वाले उस आश्रम मे दर्भासन पर एक सन्यासी विराजमान थे। उनकी आयु भी अधिक न थी। वे कोई पैंतालीस वर्ष के थे। उनके मुख पर एक विचित्र तेज था, माथे पर विभूति थी। उन दोनो से विभूषित वह मुख पास के कुण्ड मे राख से ढके अंगार सा दीख रहा था। सन्यासी ने काषाय वस्त्र धारण कर रखे थे वायु और सूर्य की क्रीड़ा समाप्त हो जाने के बाद एक गम्भीरता आ गयी थी। सब मे ऐसा ही होता है। पर सन्यासी को तो कभी लड़कपन ने छुआ नही था। उनका जन्म श्रोत्रिय कुल में हुआ था। बचपन से ही उनकी बुद्धि सूक्ष्म और प्रखर थी। इसलिए उनके गुरु उन्हे चुनकर बचपन मे ही आश्रम मे ले आये थे। अष्टांग योग आदि सिखाकर उन्हे एक सही शिष्य बनने के लिए तैयार किया था। इसलिए जब से उन्हे समझ आयी तभी से उन्हे बडो का कर्त्तव्य ही निभाना पड़ा, छोटो के कर्त्तव्य खेल-कूद के लिए उनके पास अवकाश ही नहीं था। गुरुजी के बाद वे ही मठ के स्वामी बने। उनके गुरु भी महाश्रेष्ठ थे। शिष्य ने भी 'प्रत्येक बात मे उन्ही के चरण-चिन्हों पर चलना चाहिए, उनके नाम अपकीर्ति नही मिलनी चाहिए' यह सोचकर वही परम्परा बनाए रखकर उसी जन्म में वास्तविक शान्ति पा ली। जिनका जीवन पथ निष्कपट और निष्कल्मष होता है, उन्हें शान्ति प्राप्त करना सरल होता है। वह सन्यासी अपने निष्कपट और निष्कल्मष जीवन के फल को भोगते हुए उस शान्त वातावरण में अपने तन-मन मे एक अवर्णनीय सुख में निमग्न थे।

आश्रम के भीतर से एक शिष्य ने आकर कहा, "स्वामी जी, मैंने सारी प्रतियाँ शुद्ध कर दी।"

सन्यासी बोले, "ठीक है।"

प्रकृति के सौन्दर्य में खोये, सभी विचारो से उन्मुख उस सन्यासी का मन अब दोपहर से मस्तिष्क मे चक्कर काटते एक विचार की ओर घूम पड़ा। अपने किये किसी काम के बारे मे सोचना उनकी दिनचर्या नहीं थी। उस दिन एक विशेष घटना घटी थी। उन्होने सदा की भाँति शारदा माँ की पूजा की, नित्य का मित भोजन किया और सब शिष्यों को पढ़ाने का कार्य निपटा दिया। बाद में

'शेष' को पढाना था। अपने बाद मठ चलाने के लिए और गुरु परम्परा को बनाये रखने के लिए उन्होंने ब्रह्मचारी शेष को अपना उत्तराधिकारी चुना था। वह अपने गुरुजी की पसन्द के अनुरूप था। प्रतिदिन सब को पढ़ाने के बाद वे शेष को पढाया करते थे। उस दिन दोपहर को पढते समय शेष एक पुस्तक लेकर गुरुजी के सामने बैठा। शिष्य श्लोक और उसकी व्याख्या पढता, गुरु उसे सुनते और बीच-बीच मे आवश्यक बातें समझाते। यही उनकी पढाने की परिपाटी थी। शिष्य ने ग्रंथ से यह वाक्य पढा, "भले ही कोई वृद्ध हो, ज्ञानी हो अथवा सन्यासी हो, स्त्री का रूप उसे निश्चित रूप से अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।" गुरु ने यह वाक्य सुनकर कहा, "अच्छा तो यह वाक्य है ! यह व्यास जी की बात है।" पता नही यह बात कितनी बार उनके मन मे उठी थी। व्यास जी वृद्ध भी थे, ज्ञानी भी थे पर सन्यासी की बात कैसे कह सकते थे ? यह सोच कर वे बोले, "उसे काट दो और ठीक करो। उसे यूँ लिखो, "चाहे कोई वृद्ध हो या ज्ञानी हो, उसे स्त्री का रूप आकर्षित कर सकता है। पर सन्यासी को, आकर्षित नही कर सकता।" उनकी बात सुनकर शिष्य ने ज़रा घबराकर कहा "स्वामी जी, यह तो व्यासोक्ति है।" गुरुजी ने तनिक क्रोध से ही कहा, "तुम नही समझोगे। कोई भी अपने अनुभव की बात कह सकता है। अनुभव के बिना बात नही कहनी चाहिए। सन्यासी के बारे में व्यास जी नही जानते थे।" शिष्य ने उसे उसी प्रकार सुधारा। "भंडार मे धरी अन्य प्रतियो को भी इसी तरह ठीक कर दो," कहकर शिष्य को आज्ञा देकर सन्यासी ने उस दिन का पाठ समाप्त कर दिया।

संध्या को शिष्य ने आकर गुरुजी को बताया कि उसने सारी प्रतियाँ ठीक कर दी हैं। गुरुजी उस दिन सारी दोपहर यही सोचते रहे कि व्यासोक्ति को सुधारना उचित है कि नही। अब शिष्य से अपना काम पूरा करने की बात सुनने के बाद फ़िर से वही प्रश्न उनके सामने आ खड़ा हुआ। उन्होंने सोचा कि उन्होंने जो किया वह ठीक ही है। कई बार विचार करने पर भी वह अनुचित नही लगा। सन्यासी को लगा कि यह केवल उनके अनुभव की बात न थी। उनके गुरु का मत भी कुछ ऐसा ही रहा होगा।

सन्यासी के अपने विद्यार्थी काल मे भी अपने गुरु के सामने यही ग्रंथ पढते समय यही वाक्य आया था। तब उन्होने इसी वाक्य को पढ़कर शरमा कर सिर ज़रा नीचा कर लिया था। गुरुजी कुछ नही बोले थे ! इसलिए ये भी चुप रह गये थे। गुरुजी ने आगे पढने को कह दिया था। वह पाठ समाप्त होने के बाद इनके गुरुजी से पूछने पर कि व्यास जी ने यह क्या कहा है, तब गुरुजी ने बताया था, "यह गलत नही"। स्त्री जन्म हेय कहने पर भी स्त्री की आत्मा पुरुष की आत्मा से अधिक सुसंस्कृत है, इस बात में कोई संदेह नही। उत्तम वस्तु को

देखकर उत्तम न होने वाले का उसकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है। आकर्षित करने का अर्थ यही है। चुम्बक की शिला की ओर लौह का खिचना स्वाभाविक है। स्त्री चुम्बक के समान है। पुरुष लौह के समान है। लौह चाहे दोषयुक्त हो या दोषहीन चुम्बक की ओर खिचता ही है। पुरुष चाहे कितना श्रेष्ठ क्यों न हो वह स्त्री की ओर खिंचता है। आकर्षण निर्दोष हो सकता है।" गुरुजी की युक्ति तो सही थी पर शिष्य का मन उसे मानने को तैयार नही हुआ। पर सार यह था कि गुरुजी ने जो बात कही थी उससे यह स्पष्ट था कि गुरु जी का मन स्त्री के सामने कभी हारा नही था। इसके अलावा इन्होने स्वयं देखा था कि गुरुजी की आत्मा बडी निर्मल थी। उन्होने समाधिस्थ होकर उस पवित्र देह को त्यागा था। उनके बाद ही तो इन्होने यह पीठ ग्रहण किया था। इसमें छिपाने की कोई बात नही थी। इनका मन कभी स्त्री के रूप से हारा नही था। बचपन से अब तक इन्होने कई स्त्रियो को देखा था। सबसे पहले अपनी माँ को वे जितनी गम्भीर थी उतनी ही सुन्दर थी। आज प्रतिदिन जिस शारदा माँ के विग्रह की पूजा करते हैं उसमे वही गाम्भीर्य और सौन्दर्य दिखाई देता है। वह बहुत सुन्दर थी। इनकी बहिने भी बड़ी सुन्दरी थी। चार-चार बच्चो की माएँ बनने के बाद परलोक-गामिनी हुई थी। इन्होने उनका सौन्दर्य देखा था।

जब ये छोटे ही थे तब कुछ उत्साही शिष्यों ने शोभायात्रा के समय इनकी पालकी के आगे-आगे कुछ वेश्याओं को भी चलाया था। वेश्याओ ने भी औरो की तरह ही स्वामीजी को देखा था। लेकिन स्वामीजी ने उनकी ओर ध्यान नही दिया। वेश्याएँ इनके व्यवहार से चकित होकर दूसरी ओर घूम गयी थी। कुछ समय के बाद स्वामीजी को जब थोडा बहुत सासारिक ज्ञान हुआ तो उन्होने आगे से वेश्याओं को बुलाने की मनाही कर दी थी। वेश्याओ मे कुछ सुन्दरियाँ भी थीं। स्वामीजी उस सौन्दर्य को देखकर भी स्थिर थे। आज भी जब वे नदी स्नान के लिए जाते हैं, तब यहाँ-वहाँ गाँव की स्त्रियाँ नदी मे स्नान करती दिखाई पड जाती हैं। उनमें युवतियाँ इनको देखते ही कपड़े लत्ते ठीक करके बैठ जाती हैं या पानी मे ही बैठी रहती हैं। स्वामीजी उन्हे अनदेखा करके आगे बढ जाते। कभी-कभी उनके मन मे यह विचार उठता कि इसी प्रकार गोपियो के बहुत हाव-भाव दिखाने पर ही भगवान् श्री कृष्ण साड़ियाँ उठाकर पेड़ पर चढ़ गये होगे। इन सब बातों से वह स्पष्ट होता है। यह बात नही कि स्वामीजी को स्त्री का रूप सुन्दर न लगा हो, पर सुन्दर लगने पर भी उनके मन को विचलित नहीं कर सका। उन्हें सौन्दर्य देखने से सन्तोष होता था। पर सुन्दर लड़की या युवती को देखने पर जो सन्तोष उन्हें होता था, वही उन्हें एक सुन्दर लड़के या युवक को देखने पर होता। ऐसे सौन्दर्य को देखने पर स्वामीजी के मुख से निकलता, "विधाता सृष्टि मे सौन्दर्य की वृद्धि करता आ

रहा है। अपनी सृष्टि को शाश्वत बनाये रखने का उसका वह एक उपाय है। भरे-पूरे शरीर वाली बडी-बड़ी आँखो वाली, सूक्ष्म और खड़े कानो वाली, नये नये उगे केले के काँड जैसे लाल सीगो वाली, ताजी जवान बछिया के देखने से स्वामीजी को उतना ही सन्तोष मिलता जितना किसी, सुन्दर युवती को देखने पर मिलता था। कई बार कई ऐश्वर्यशालियों के यहाँ जब भिक्षा लेने जाते तो वहाँ बहुत सी सुन्दरियाँ भी दिखाई देती। उनमे कई स्त्रियाँ सजी-धजी होती। सारे पुरुषों की आँखें उनकी ओर है इस आभास से शरमा कर सिर झुकाए, अपने नाज़ दिखाती, अपने हीरो के आभूषणो का वैभव दिखाती और हीरो से भी ज्यादा पानीदार आँखें चमकाती, उनके पास आकर फर्श पर झुककर उनके श्यामल और रूखे चरणों का स्पर्श करती। तब स्वामीजी को ऐसा लगता मानो मठ के पास की पुष्करिणी अथवा नदी के प्रवाह में वह कर आयी कोई कोमल कमलिनी हिल रही हो। परन्तु किसी भी स्त्री का सौन्दर्य उन्हे आकर्षित नही कर सका था। प्रतिदिन जगदम्बा शारदा के सम्मुख बैठकर पूजा करते समय उन्हें अनुभव होता कि सृष्टि के किसी माया मर्मज्ञ ने माँ की मूर्ति को उत्कीर्ण किया होगा। उस रूप का ध्यान करते समय कही मोह उत्पन्न हो सकता है? इसलिए सन्यासी को व्यासोक्ति सुनकर ज़रा असमाधान हुआ। एक निष्कलुष मन वाले को वह बात सुनकर असन्तोष क्यो होना चाहिए? सन्यासी ने सोचा दोपहर को उनका कराया सुधार अनुचित तो नही? उससे शायद उनके मन मे थोडा अहकार भी जागा होगा! जब इतने अच्छे गुण हो तो भला थोडा अहकार कैसे न आता? स्वामीजी ने मन ही मन सोचा कि गृहस्थी के जंजाल मे फँसे व्यास जी को सन्यासियों की वात क्यो उठानी चाहिए थी! कर्मसाक्षी सूर्यदेव जब अपनी पैनी किरणो से सन्यासी का मन टटोलने का प्रयास करने लगा तो वे अपने को निर्दोष सिद्ध करते हुए आत्मसंतोष की हँसी हँसकर सन्तुष्ट हुए।

सन्यासी के इस आत्म परिशीलन मे कुछ आवश्यक अश यहाँ छूट गये। मन का जो भाव आत्मा को छूकर सन्तोष का अनुभव कराता है वही भाव बाह्य रूप से आकर्षण का फल समझा जाता है। नदी किनारे स्नान करती स्त्रियो को अन-देखा करके जाते समय सन्यासी के मन मे शायद यह भाव रहता होगा कि ये मेरे सन्यास की महिमा से प्रभावित्त हो अथवा सुन्दर मुख देखने के बाद दुवारा देखने की इच्छा न हो। यदि इच्छा हो भी तो भी अपनी स्थिरता दिखाने के लिए इस निश्चित उद्देश्य से वे आगे बढ जाते थे। शिष्यो के घर में सुन्दरियों को देखने के बाद मन स्थिर रहता था? सन्यासी ने उस बारे में सोचा न था। सौन्दर्य देखने पर उन्हे अच्छा लगता था, खुशी होती थी। यह तो सत्य है। यदि यह दर्प आड़े न आता तो मन में जो सन्तोष होता था उसका परिणाम भी

स्वाभाविक मनोवृत्ति के रूप मे बाहर दिखाई पड़ जाता। लेकिन सन्यासी को यह पता नही था कि वे धर्म के कारण ही ऐसे मार्ग पर चल रहे हैं, दर्प के कारण नही।

अंधेरा घिरता आ रहा था। पक्षी नदी किनारे की अमराई मे मनमाने स्वर निकालकर यह सोचकर चुप हो गये मानो उन्होंने एक अद्भुत सगीत का गायन किया हो। निशिमाता ने बिना आहट के कदम बढ़ाकर दुनिया को सुलाने के लिए अपने आँचल से ढांक दिया। वह छुटपुटा अँधेरा निशिमाँ के आँचल जैसा ही था। गाँव के दीये और पेड़-पौधो के बीच जुगनू एक-एक करके टिमटिमाने लगे। देर से आने वाली गाय अपने बच्चे के लिए रँभाती चली जा रही थी। उसका स्वर साफ सुनाई पड रहा था। सध्या हो जाने से दूसरे प्रकार के शब्द कम होते गये। नदी का कलकल स्वर, जो अब तक अस्पष्ट, था अब स्पष्ट हो गया था। मठ मे एक शिष्य ज़ोर से मंत्रोच्चारण कर रहा था। स्वामी जी कुछ देर सोचते हुए उस शान्त वातावरण का अनुभव करते बैठे रहे। तभी धीरे-धीरे बूँदें गिरने लगी।

अचानक पायल की झनकार सुनाई पड़ी। ऐसा लगा कोई तेज़ी से मठ की ओर चला आ रहा है। स्वामीजी सोचने लगे, कौन हो सकता है। उस बेला मे, साधारणतः कोई भी मठ की ओर नही आता था। लोग वहाँ केवल दिन मे ही आते थे। मठ पहुँचने के लिए एक जंगल पार करना पडता था। वहाँ एक पहाड़ी भी थी जिसमे चीते आदि रहते थे। अँधेरे के बाद लोग उधर जाने मे डरते थे। अँधेरा हो जाने पर राहगीर मठ का रास्ता छोड़कर गाँव के रास्ते पर चलते थे। उस दिन लगा कि कोई मठ की ही ओर आ रहा है। आने वाली स्त्री-सी लगीं। स्वामीजी ने कौतूहल से यह सोचकर उस ओर दृष्टि दौडाई कि गाँव का रास्ता छोडकर इधर कौन आ सकता है? पायल की झनकार और स्पष्ट हो उठी। अन्त मे एक युवती ने वहाँ आकर पूछा, "घर में कोई है? ए माँ जी?"

अँधेरा घिरा होने से सन्यासी को बोलने वाली का रूप दिखाई नही पड़ा। धूनी की आग की चमक से तनिक धुँधला ही दिखाई देता था। स्त्री वर्षा में भीग गयी थी। पूरे कपड़े गीले हो चुके थे।

सन्यासी, "तुम कौन हो बहिन?"

"ओह! आप स्वामीजी हैं। यह किसका घर है? आपका?"

"भगवान का घर है बहिन। क्योंकि यह एक मठ है।"

"यहाँ कोई स्त्री है?"

"नही बहिन। तुम कौन हो? यहाँ क्यों आयी हो?"

स्त्री ज़रा पास आयी और गेरुए वस्त्र देखकर बोली, "आप यहाँ के स्वामी

जी है ?"

"हाँ बहिन । मैं यहाँ का रखवाला हूँ ।"

"बाबा, पता नही मुझे क्यो डर लग रहा है । यह सुनकर तो और भी डर लगा कि यहाँ कोई स्त्री नही है । लेकिन आपको देखकर तो जरा धैर्य हुआ । आप मेरे पिता के समान हैं। आप सन्यासी है किसी को भी कुछ कहने का मौका नही मिलेगा। हाय राम । यह पता नही मेरे पति का क्या हुआ ? अब मैं क्या करूँ ?" यह कहकर वह स्त्री रोने लगी ।

सन्यासी का मन द्रवित हो उठा । वे बोले, "बहिन, तुम्हारे पति का क्या हुआ ? क्या वे तुम्हारे साथ आये थे ? तुम लोग कहाँ से आये हो ?"

उसकी व्याकुलता देखकर सन्यासी को चिन्ता तो हुई पर साथ ही यह उत्साह भी हुआ कि उनका मन स्त्री का रूप देखकर विचलित नही होगा; यह दिखाने का अच्छा अवसर हाथ आया। जब वह पास आयी तब सन्यासी ने उस के वर्षा से चिपक गये कपड़ों और शरीर को सिर से पाँव तक देखा । स्त्री के असहाय और दया का पात्र होने पर भी उन्होने अपने मन मे एक उत्साह-सा अनुभव किया । सन्यासी का ऐसा करना एक दोष था ।

वह स्त्री बोली, "बाबा जी, रंगनाथपुर मे मेरा मायका है । मैं और मेरे पति वहाँ जाने के लिए मल्लेयूर जा रहे थे । रास्ते में उन्होंने कहा, 'तुम चलती रहो । मैं आ जाता हूँ । आगे जाकर खड़ी हो जाना । वैसे भी रास्ते भर तुम बहुत धीरे-धीरे चलती हो,' कहकर मेरा मज़ाक उडा रहे थे । 'इन्हे दिखा देना चाहिए कि मैं कितना तेज़ चलती हूँ,' सोचकर मैं तेजी से चली आई । कुछ दूर आने के बाद घूमकर देखा कि वे कितनी दूर हैं । तो वे दिखाई ही नही दिये । 'चलने में मैं भले ही हार जाऊँ, पर वे आ जायें, इतना ही काफी है', यह सोचकर मैं वही बैठ गयी । काफी देर बीत जाने पर भी वे आये नही । वापस जाकर वे जहाँ रुके थे वहाँ खोजा । उनका नाम निशान भी नही था । इधर-उधर ज़ोर से पुकारा, कोई उत्तर नही मिला । अकेली स्त्री, ऊपर से अँधेरा घिरता आ रहा था । सुना था इसी रास्ते से मल्लेयूर पहुँच सकते हैं । यही रास्ता पकड़कर चली आयी । कोई गाँव नही मिला । यहाँ आ पहुँची । महाराज, कृपा करके मेरे सुहाग की रक्षा कीजिये । किसी को भेजकर, मेरे पति को ढुंढवा दीजिये । मेरी जान निकली जा रही है ।" कहती हुई वह आँसू बहाने लगी ।

स्त्री के आँसू पुरुष के मन को पिघला देते हैं । सन्यासी को बहुत दया आयी । वे बोले, "बहिन, यहाँ बहुत थोड़े से आदमी है । किसे भेजूं । तुम्हारे पतिदेव को किसी प्रकार का कष्ट नही होगा । गाँव जाने वाले दोराहे पर तुम इस तरफ निकल आयी होगी, वे उधर निकल गये होगे और कोई बात नही

हुई होगी । अब तुम यही ठहरो । कल प्रातः गाँव जाकर पूछताछ करने पर तुम्हारे भय का निवारण हो जायेगा ।"

वह बोली, "महाराज, आप मेरे पिता के समान हैं पर आप कह रहे थे यहाँ कोई स्त्री नही हैं । मैं अकेली स्त्री, यहाँ सारी रात कैसे रहूँ ।"

"अरे, तुम तो मेरी बेटी के समान हो । यहाँ एक कोठरी है । तुम उसमें ठहर सकती हो । मैं बाहर दरवाज़े पर रखवाली को पड़ा रहूँगा । रात को अगर डर लगे तो मुझे पुकार लेना । किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नही ।"

"आप'''आप तो सन्यासी है । अच्छा अब और क्या किया जा सकता है । आपका कहना ही सही । सुबह उठते ही मेरे पति की खोज कराकर मेरे सुहाग की रक्षा कीजिये ।"

यह कह स्त्री ने सन्यासी के पाँव छूकर नमस्कार किया । तब उसकी कोमल उँगलियो ने सन्यासी के चरणो का स्पर्श किया ।

देवाधिदेव भगवान् इस संसार मे सौन्दर्य का केवल आधा भाग ही दिखाता है । उसे देखकर पूर्ण सौन्दर्य को देखने का प्रयास करना सन्यासी की आदत थी । ऐसा ही लगता था कि उस देह का सौन्दर्य देखकर ही वह भीगी साडी उससे चिपक गयी थी । उसमे से केवल आधा शरीर दीख रहा था । वह सन्यासी उसी के बारे मे सोचने लगे या कुछ और यह पता नही । ज्यादा खट्टा चबाकर जैसे दाँत खट्टे हो जाने के बाद और किसी चीज़ को खाने मे हिचकिचाते है । व्यासोक्ति को सुधारने में ही उनका सारा धर्म चुक गया था । इसीलिए शायद उस युवती की उँगलियों का स्पर्श सह पाने का धैर्य उनमें नही था । कारण चाहे जो भी रहा हो युवती की उँगलियो के स्पर्श से सन्यासी के रोंगटे खड़े हो गये ।

स्त्री के नमस्कार करके उठते ही अपनी अस्थिरता पर वे स्वयं विस्मित हो गये । उन्होंने अपने शिष्यो को दीये लाने को कहा । वे लोग दीये लेकर आये । उन दीयो के प्रकाश में उस स्त्री का सौन्दर्य देखकर वे एकदम ठगे से रह गये ।

आषाढ के महीने मे यदि राही बीच रास्ते में वर्षा मे फँस जाए और वर्षा रुकने वाली नही सोचकर, उत्तर की ओर मुड़े तो उस ओर भी उमड़ती घन-घोर घटायें पाकर, उस घटा के बारे मे सोचे, और तभी इन्द्र का वज्र चमक उठे तो उसकी प्रभा से चौंधिया कर जैसे उसकी आँखें मुँद जाती है, उस सुन्दरी की रूप राशि से चौंधियाकर उस सन्यासी की आँखें उसी प्रकार मुँद गयी । तिरछी रेखाओं के मेल से कितने सौन्दर्य का निर्माण हो सकता है । इसकी परीक्षा करने को ही मानो ब्रह्मा ने इस कामिनी के कमनीय शरीर की रचना

की थी। और कामिनी के कानो पर लहराती अलकावलि पतली कमान-सी खिंची भौहें, एक ही बिन्दू से दूसरे बिन्दू तक मिलने की होड लगाती हुई सीपी-सी पलकें, अर्ध-वृत्ताकार कोमल सुन्दर कपोल, बिजली जैसी लचकीली काया पर लिपटी नीली जरीदार साडी। पति वियोग से मुख पर आने वाली स्वाभाविक मुस्कान, रुक जाने से आँखो से फूट रही थी। उस मोहकता से लदी आँखें, सौन्दर्य को चार चाँद लगाने वाला गालो का गड्ढा। उस सौन्दर्य की धार से दुगने चमक उठे बाजूबन्द, गोल-गोल कलाइयों में चमकते कगन, तीखी खुली नासिका मे जुगनू-सी चमकती लौंग, चंचल घुंघराली काली अलकावलि का सौन्दर्य द्विगुणित करती धवल मल्लिका। ऐसी रूप राशि को देखकर कोई भी मानव ठगा-सा रह जाता है।

उस सन्यासी की दृष्टि मे आज ही क्यो ऐसा सौन्दर्य पडा ? वह अपने को भूलकर आश्चर्यचकित रह गया और सुध-बुध भूलकर उसी को निहारने लगा।

स्त्री ने तनिक मुस्कराकर सिर झुकाकर कहा, "स्वामीजी, दीये की यहाँ क्या आवश्यकता है। 'आप किसी को मेरे साथ भेज दीजिए, मैं गाँव चली जाऊँगी।"

सन्यासी को तनिक शर्म आयी। वे बोले, "भीतर जाने को प्रकाश चाहिए था। इस कारण दीया मंगवाया। चलो भीतर जाओ, बहिन।"

तव भी वह बोली, "अगर आप किसी को साथ कर देते तो मैं गाँव चली जाती।"

सन्यासी बोले, "इस अँधेरे मे गाँव पहुँचना कैसे हो पायेगा, तुम्हारी रक्षा को मैं जो हूँ। माँ शारदा की सन्निधि मे डरने की कोई बात नही। भीतर चलो, बहिन।"

सब भीतर गये। उस स्त्री को माँ शारदा के विग्रह की एक पुरानी साड़ी दी गयी। शारदा पूजा के समय वह भी वही खडी थी। पूजा के बाद, आश्रम मे जो कुछ खाने को था वह उसने खाया। यह सब होने के बाद सेवक ने आंगन के किनारे की कोठरी मे एक चटाई बिछाकर माँ शारदा की एक और पुरानी साड़ी ओढने को रखकर सूचित किया कि वह उस कोठरी में सो सकती है। सन्यासी ने आश्वासन दिया कि वे द्वार पर ही रहेगे। उसे डरने की जरूरत नही। स्त्री मुस्कराती हुई, "भगवान् मेरा सहायक है", कहकर भीतर गयी।

सन्यासी द्वार के पास ही बैठकर ध्यान में मग्न हो गये। कुछ देर बाद स्त्री ने बाहर आकर नमस्कार किया और भीतर जाकर लेट गयी। क्षण भर बाद फिर से उठकर दरवाजे से सन्देह की दृष्टि से सन्यासी को देखा और साँकल लगा ली।

वह न मुग्धा थी और न प्रौढा। धोखाधड़ी न जानने वाली सीधी-सादी

युवती थी। तब एक बिलौटे के हाथ पडे चूहे जैसी स्थिति सन्यासी की थी। उन्होने ऐसा अपूर्व सौन्दर्य कभी नही देखा था। आज वह रूप देखकर उनका मन ज़रा पगला-सा उठा। उस तरुणी ने उनके बारे मे जो सन्देह दिखाया और उसके हाव-भाव से यह भी लगा कि वह डर भी रही है। इससे उन्हें ऐसा लगा कि यदि उसे डराया जाए तो डर भी सकती है। अच्छा मजाक रहेगा। खेल ऐसे ही शुरु होता है। आलस्य से सोयी बिल्ली के सामने झाड़ू की सीक हिलाये तो वह चूहा पकडने का खेल खेलने को तैयार हो जाती है। अपने बच्चे के सामने बैठकय "माँने मारा" कहकर यदि आप अपनी आँखें बन्द कर ले अथवा उसके पास गाल ले जाकर यूँ ही "हाय" करें तो दूसरे किसी काम मे सोया बच्चा आपकी आँखे खोलने का प्रयास करेगा। या आपकी "हाय" सुनकर आयेगा। दूसरे विषयो मे सोए और स्त्री की माया से बचे हुए उस सन्यासी को उस मायाविनी का खेल देखकर ज़रा शरारत करने की इच्छा हुई। बाद मे 'यह कैसा अविवेक', सोचकर ध्यान लगाकर बैठ गये।

ध्यान में उन्हे सदा शारदाम्बा का रूप ही दिखाई दिया करता था। उस दिन शारदाम्बा के सौम्य रूप के साथ एक और रूप भी दिखाई दिया। वह रूप किसका था? उस तरुणी का रूप! उन्होने कभी ऐसी शरारत नही की थी। उस खेत की तरफ से मन हटाने में उन्हे बहुत कठिनाई नही हुई। पर मन की स्थिति कुछ ऐसी ही थी। सोचने पर सन्यासी को लगा कि वह उस रूपसी के रूप पर मुग्ध हो गये है। इसका मतलब क्या है? क्या उससे शादी करने की इच्छा हुई! और सन्यासी के लिए कैसा शादी-ब्याह! उसे प्रेयसी बनाया जा सकता है? ऐसा दुष्ट विचार तो उनके मन में आ ही नही सकता था तो और कौन सी आशा थी? उसे देखने की इच्छा थी, केवल उसे देखने की इच्छा! सन्यासी के शुद्ध मन मे कोई दुष्ट भावना आ ही नही सकती थी। उन्हे केवल उस सुन्दरी का मुख एक बार फिर से देखने की इच्छा हुई। जैसे कि साधारणत: राह मे जाते हुए किसी की फुलवाड़ी मे खिले सुन्दर गुलाब को देखें तो क्या उसे दुबारा देखने की इच्छा नही होती? उसे अच्छी तरह देखने को कोई भी क्षण भर को खडा हो सकता है पर उसे चुराने की बात नही सोच सकता है। पर देखने की इच्छा तो अवश्य होती है। सन्यासी के मन में भी युवती के बारे में कुछ इसी प्रकार की इच्छा जागी। उसे देखने की और भली प्रकार देखने की इच्छा हुई। तब उनके मन मे स्वभावत: यह विचार भी उठा कि ऐसी इच्छा ग़लत है। मुझे ऐसी इच्छा करना शोभा नही देता। कुछ देर बाद किसी प्रकार इस इच्छा को जीत लेना चाहिए। सोचकर उन्होने "शेष" कहकर शिष्य को आवाज लगाई।

शेष को बुलाते समय जो विचार मन मे था, वह उसके आने तक उड़

गया। उस स्त्री के मोहक सौन्दय से हार कर मन न जाने क्या कर बैठे। यदि पास हो तो अच्छा रहेगा। यह सोचकर ही उन्होंने शेष को पुकारा था। शेष के पास आने तक मन मे विचार आया, 'क्या मै इतना दुष्ट हूँ? मेरा मन जो इतने दिन तक विचलित नही हुआ, क्या आज हार जाएगा? यदि मेरा अपने मन पर भी वश नही रहेगा तो क्या शेष के आने से ठीक हो जाएगा? धर्म पर विश्वास छोडकर अपने गर्व का विश्वास करूँ, आदि बातें सोचकर उन्होने निश्चय किया कि शेष को उनके पास सोने की आवश्यकता नही। पता नही मन के भीतर और कौन सा विचार रहा हो, उसका सन्यासी को भी स्वयं पता न चला। शेष यदि पास आकर सो जाय तो उस सुन्दर मुख को देखने की लालसा चाहे तो कितनी भी तीव्र क्यो न हो चुप ही रहना पडेगा। उनकी इच्छा कोई बुरी भी तो नही। उन्होने उसका कुछ बुरा सोचा नही। केवल उसका सुन्दर मुख देखने की इच्छा ही तो है। उसके सुन्दर बिजली जैसे शरीर को देखना है। प्रात: के प्रकाश मे उसे अच्छी तरह देख पाना सम्भव नही। रात को किसी बहाने उसे जगाकर यूँ ही उसे देख लेना काफ़ी है। अगर शेष पास सोया होगा तो ऐसा हो पाना सम्भव नही। शायद उन्होने मन में ऐसा सोचा होगा। धर्म से नही तो दर्प से ही सही यह समझ न पाने पर भी शेष के आने से अपनी इच्छा पूरी न होगी, सोचकर उन्होने अपना विचार बदल दिया होगा। पर शेष गुरु की आवाज सुनकर तुरन्त आ खडा हुआ। इस पर गुरु बोले, "कोई काम नही, जाकर सो जाओ।" 'शेष चला गया।

धर्म का आधार छोड देने पर दर्प के आधार की कीमत न पहचानते हुए उसे भी छोड देने पर सन्यासी लकवे के मारे रोगी से निराधार हो उठे थे। उनके स्वच्छ मन मे वह आशा बलवती हो उठी थी। कल्पना कीजिए आप एक निर्मल प्रातः मे, एक स्वच्छ पानी के तडाग के किनारे बैठे है। पानी मे बिम्बित आकाश के अति सूक्ष्म बादल की छाया भी उसमे दिखाई दे जाती है। वह छाया पानी का गुण नही पर उससे पानी की शुद्धता घट जाती है। ऐसे देखते-देखते ही उन बादलो की छाया घनीभूत हो जाय, उस छाया से उस शुभ्र दीखने वाले जल मे काला और क्रूर जलसर्प नीचे से ऊपर आ जाय तो? उसी प्रकार सन्यासी के स्वच्छ मन मे उस बिजली की भाँति चमकती स्त्री को देखने की इच्छा उसके लिए अस्वाभाविक एक मलिनता सी उत्पन्न होकर बलवती हो उठी। 'अब उसे यूँ ही आँख भर देखना चाहिए', ऐसी इच्छा ने एक सर्प बनकर उनके चैतन्य को आच्छादित करके मन को विवश-सा कर दिया। उन्होने बार-बार उस रूप को याद किया। उसे देखने की तीव्र इच्छा हुई। अनन्त शान्ति का सागर बनकर शोभित उस रात्री ने स्तन पान कराने को बच्चे को आँचल से ढाँक लेने वाली माँ के समान संसार को अन्धेरे मे ढाँप लेने

वाली उस संध्या को; भले मेरे हजारों टुकड़े हो जाएँ पर मुझे संसार के लिए उपयोगी बनना है, यह सोचकर यज्ञेश्वर ने अपने टुकड़े-टुकड़े करके बाँट दिया हो। ऐसे दीखने वाले गाँव के दीयों को, उस शान्ति सागर मे नन्ही-नन्ही तरंगें उठने की भाँति उठने वाले उस पायल के स्वर को, दीये के प्रकाश में देखने पर उसकी आँखों को चौंधिया देने वाले सौन्दर्य को, दीये के आने पर उस युवती के शरमा जाने को, सन्यासी के विषय में सन्देह को, भय से, कौतूहल से, लज्जा से या आशा से प्रदर्शित करती उन आँखों को, उन सारे अवर्णनीय दृश्यों को याद करके वे सन्यासी एकदम पागल से हो उठे। देखने की इच्छा गलत है, यह जानते हुए भी वे मूर्ख बन गये। यह बात सोचकर शारदाम्बा का ध्यान करने का प्रयास किया तो मन वश में न हो पाया। भूख से हार नहीं माननी चाहिए, मन यह निश्चय करके दृढ़ होकर बैठकर जितना हम दुखी की चीजों से मन को हटाने का प्रयास करते हैं पूरी देह को निचोडती हुई घुसती ही चली आती है। उसी प्रकार उस स्त्री को पुन: देखने की इच्छा गलत है, यह सोच कर सन्यासी ने उस इच्छा को मन से हटाने का प्रयास किया तो उस इच्छा ने उतनी ही तीव्रता से उनके मन को घेरकर विवश कर दिया।

क्या उस युवती का सौन्दर्य ऐसा था? आप यह प्रश्न कर सकते है। स्त्री का सौन्दर्य दो प्रकार का होता है। एक सौम्य होता है जो आत्मा को आच्छादित करके मन को शान्त कर देता है, यह मातृत्व का सौन्दर्य है। दूसरी प्रकार का सौन्दर्य मन को मुग्ध करके सुध-बुध भुला देता है। यह प्रेयसी का सौन्दर्य होता है। चाहे कोई भी व्यक्ति क्यों न हो उसकी आँखों को प्रत्येक स्त्री में ये दोनों सौन्दर्य दिखाई देते ही है। कईयों में दोनो का अंश थोडा बहुत रहता ही है। मातृत्व के सौन्दर्य से मन शान्त हो जाता है, और प्रेयसी के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाता है। निष्कलमष मनुष्य का मन अधिकांश स्त्रियों में मातृत्व का सौन्दर्य भले ही थोड़ा क्यों न हो, देखता ही है। मोहित करने वाले सौन्दर्य की ओर उसका ध्यान नहीं जाता क्योंकि वह उस विषय में सोचता ही नही। परन्तु केवल मुग्ध करने वाले मायावी सौन्दर्य की शक्ति ही जब स्वयं देह धारण करके सामने आ जाय तो कौन सा ऐसा निष्कलमष मन होगा जो उस परीक्षा में हार नही जाएगा। आज सन्यासी का मन हार गया था।

सन्यासी कुछ देर तक वैसे ही बैठे रहे, फिर धीरे से उठे। 'उस स्त्री को जगा कर उसे एक बार देख ही लेना चाहिए, सोचकर दरवाजे के पास जाकर उन्होंने दरवाजा धकेला। भीतर से साँकल लगी थी। उन्होंने दरवाजे पर कान लगाकर भीतर की आहट ली। भीतर से उस स्त्री की साँसों के स्वर से स्पष्ट लगा कि वह सोयी हुई है। वह सुन्दर मुख उस बिस्तर पर कैसा लगता होगा!

ने पुन: धीरे से दरवाज़ा धकेला। तनिक सी आहट हुई। स्त्री ने घबराकर उठ कर पूछा, "कौन है ?"

सन्यासी ने कहा, "मैं हूँ, बहिन।"

स्त्री ने पूछा, "मठ के स्वामी जी हैं क्या ?"

"हाँ।"

"क्या है स्वामी जी ? मेरे पति आ गये क्या ?"

"नही बहिन, यह देखने आया था कि तुम आराम से सो रही हो या नहीं।"

"नीद का सा सुख जागरण मे नही मिलता, महाराज। नीद में मैंने स्वप्न देखा कि मैं अपने पति के साथ जा रही हूँ।"

"वह शुभ सूचक है। कोई डर तो नही लग रहा तुम्हे ?"

"नही स्वामी जी ?"

"यह क्या, भीतर से दरवाज़ा लगा लिया ?"

"जी हाँ स्वामी जी, मैं अकेली हूँ। मन के धैर्य के लिए ऐसा किया।"

"हमारे बारे में कोई सन्देह तो नही न ?"

"नही, महाराज।"

"तो, इतनी देर से मैं बात कर रहा हूँ। तुमने दरवाज़ा क्यों नहीं खोला ?"

"आप सन्यासी है। आप ये बातें समझ नही पायेंगे। मैं अकेली हूँ। आधी रात में आपके लिए दरवाज़ा खोलूँ तो लोग मेरे बारे मे क्या समझेंगे ?"

"मैं सन्यासी हूँ। कौन क्या कह सकता है ?"

"मुझे विश्वास है, आप खराब नही हैं। फिर मेरे कपड़े भी तो ठीक-ठाक नही। सोकर उठी हूँ। मुझे इस वेष में देखना आपके लिए शोभनीय नही।"

"तो तुम दरवाज़ा नही खोलोगी ?"

"इस समय मैं यह दरवाज़ा अपने पति के सिवा किसी के लिए नहीं खोल सकती। भले ही वह कोई विद्वान् हो या कोई वृद्ध हो या कोई सन्यासी ही क्यों न हो ! मैं दरवाज़ा नही खोल सकती।"

सन्यासी तनिक अप्रतिभ हो गये। क्षण भर बाद उन्होंने पूछा, "क्या तुम्हें वह श्लोक पता है।"

"वह तो मेरी ही बात है।"

"यह बचपना है, तुम क्षण भर को तो बड़ी कठिन बात कह देती हो, दूसरे ही क्षण मज़ाक़ करती हो। देखो अब मैं यह कहूँगा कि जिसने वह उक्ति कही है, वह उसके बारे मे नही जानता। जरा दरवाज़ा तो खोलो। मैं यह बता दूँगा कि सही सन्यासी में यह पागलपन नहीं होता।"

"आप चाहे जो भी कहे, मैं दरवाजा नही खोल सकती ।"

"अगर धक्का दूं तो ?"

"धक्का देने पर समझ आ जाएगी ।"

सन्यासी ने थोडी देर चुप रह कर "यह लो", कहते हुए दरवाजे को ज़ोर से धक्का दिया। सांकल नही लगी थी। दरवाजा एकदम खुल गया।

भीतर वह स्त्री दिखाई नही दी। जटाधारी तपश्चर्या से तेजवान एक वृद्ध दिखाई पडे। सन्यासी घबरा गये। सामने दीखने वाले मुख पर असमाधान था और साथ ही एक मुस्कराहट भी। यह देखकर सन्यासी घबराये और अप्रतिभ होकर खडे रह गये।

वृद्ध बोले, "मन अगर आकर्षित नही हुआ तो उस मुख को देखने की इतनी लालसा क्यों ?"

सन्यासी ने उनके चरणो मे गिरकर प्रार्थना की, "मैं अज्ञ हूँ। मुझे क्षमा कीजिए।"

"तुमने मेरी बात को गलत कहा। तुम मुझे नही जानते। खैर, उसे जाने दो। तुम्हे अपने गुरु की बात पर विश्वास नही होना चाहिए ?"

"मैं घोर अपराधी हूँ।"

"उन्हें भी नमस्कार करो।"

सन्यासी ने सिर उठाकर, देखा उनके गुरु व्यास जी के पास ही खडे थे। सन्यासी ने उन्हें साष्टांग नमस्कार किया।

वे पुनः उनसे बात करना चाहते थे। पर वहाँ कोई न था। स्त्री तो पास ही निद्रामग्न थी। सन्यासी का अब पास जाकर उसे देखने का मन न हुआ। यह सब गुरु जी की महिमा है। 'उनकी कृपा से ऐसा हुआ' सोचकर वे दरवाजा बन्द करके बाहर आये और ध्यान करने बैठ गये। अब शारदाम्बा का ध्यान करना सम्भव हुआ।

प्रातः होते ही कर्मसाक्षी प्रभाकर पुनः लौट आये। सन्यासी के ध्यान करके उठने तक सब आश्रमवासी अपने-अपने काम में लग चुके थे। तब तक उस स्त्री का पति भी उसे खोजता हुआ आ पहुँचा था। उसने पति सहित आकर सन्यासी के पाँव छूकर नमस्कार करके कहा, "जब मेरा कोई रक्षक न था, तब आपने मेरे मान की रक्षा की।"

सन्यासी बोले, "मेरी और तुम्हारी रक्षा करने वाले भगवान् हैं। मैं रात को तुम्हारी कोठरी मे आया था।"

"मैं आपकी रक्षा में हूँ, शायद इस धैर्य से मुझे गहरी नीद आ गयी थी। मुझे आपके आने न आने की खबर ही नही। प्रातः उठने पर सांकल खुली मिली। मैंने सोचा शायद मैंने लगाई नही।"

"नही बहिन, तुम्हारी लगाई साँकल मैंने खोली थी।" यह कहकर सन्यासी ने उन दोनो से दोपहर तक आश्रम मे रुकने का आग्रह किया। दोपहर मे शारदाम्बा की पूजा करके उन्हें प्रसाद देने के बाद भोजन कराकर भेज दिया। प्रातः से दोपहर तक सन्यासी उस स्त्री को देखते रहे पर पिछले दिन जैसा कोई आकर्षण उन्हें उसमें दिखाई नही दिया।

उस दिन दोपहर को पढाते समय सन्यासी ने शिष्य से पिछले दिन की व्यासोक्ति को बदलने को कहा था, उसे फिर से यथावत् करने के लिए कहा।

फिर से सारा ठीक कर देने के बाद शिष्य ने पूछा, "पुन. इसे इसी रूप में ठीक करने के लिए क्या शारदाम्बा ने आज्ञा दी ?"

"क्यो ?"

"कल जब शारदाम्बा आयी थी, मैं तभी जान गया था। पर पता नही आप का क्या विचार होगा, सोचकर मैं चुप रह गया। रात को जब आपने पुकारा था तब मैंने सोचा था कि आप मुझे शारदाम्बा के दर्शन कराना चाहते है। बाद मे मुझे उसके अयोग्य समझकर आपने मुझे चले जाने के लिए कह दिया। आपकी आज्ञानुसार मैं वापस चला गया, परन्तु शायद फिर से बुला लें, इस आशा से मैं आँगन में ही बना रहा। जब आप शारदाम्बा से बातें कर रहे थे, पता नही तब मुझे क्या हो गया! मैं बेहोश सा वही पड़ रहा और सुबह उठकर गया। बाद मे मैंने सोचा कि आपने इसीलिए मुझे लौटा दिया होगा कि उसे मैं सह नही पाऊँगा। इसी से मैंने आप से पूछा कि जब आप माँ शारदाम्बा के सान्निध्य मे थे तब माँ ने आपको यह आज्ञा दी होगी।"

"अब जो स्त्री गयी वह शारदाम्बा थी क्या ?"

"नही। कल रात जो स्त्री आयी थी, वह शारदाम्बा थी।"

"जो रात आयी थी वह क्या हुई ?"

"मुझे क्या मालूम महाराज। आप अपनी महिमा से कुछ भी कर सकते हैं। मैं भला क्या समझ सकता हूँ। यह आज्ञा देने वाली माँ शारदाम्बा ही थी यह आपने बताया। मैं समझ गया। बाकी मैं कुछ नही जानता।"

"शेष, तुम ज्ञानी हो, मैं अज्ञानी हूँ। जब तुम्हे शारदाम्बा के दर्शन हुए तब मैंने एक साधारण स्त्री को ही देखा था।" यह कहकर सन्यासी ने रात की सारी घटना उसे बताई और कहा, "तुम यह बात आश्रम के अन्य शिष्यो से भी बताना। धर्म के मार्ग पर भगवान् को ही रक्षा करनी चाहिए। वह मानव के प्रयत्न से सम्भव नही। धर्म के लिए अहंकार कुठार स्वरूप होता है। भैया उस जगन्मोहन ने ही संसार को मोहित करने के लिए अपनी कलाओं से जिस सौन्दर्य का निर्माण किया है उससे बच पाने वाला कौन सा पुरुष होगा। मोहित होना अच्छा ही है पर वह सम्पूर्ण मोह उसी को अर्पित होना चाहिए। जो भी

होता है उसी की कृपा से होता है। जो भी बनता है उसी की कृपा से बनता है। परन्तु मन को सही मार्ग पर ले जाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए।"

संन्यासी बहुत काल तक उसी मठ में थे। उन गुरु-शिष्यों के बीच भक्ति और स्नेह बढ़ता ही गया। अपने दोष को स्वीकार कर लेने वाले उस गुरु की महिमा से बहुत से लोग धर्म के रास्ते पर चलने लगे। उन्होंने जिस पीठ को अलंकृत किया था, वह अब अतिश्रेष्ठ और पावन पीठ हो गया है। कई पीढ़ियों से वह ध्यान और ज्ञान से मिलने वाली शान्ति बाँटता आ रहा है।

(प्रकाशन वर्ष : 1920)

वह इंदिरा थी या...

••• नारायण मूर्ति के लिए ससार में कही भी सुख न था—घर के बाहर भी नही, घर के भीतर भी नही। मन में भी नही, मन के बाहर भी नही। इन दिनों तो वह कई कारणों से सदा व्यथित रहता। उस दिन वह दफ़्तर से लौटा तो उसे जितना परोसा गया था उतना ही खाकर सोने के कमरे में जाकर बैठ गया। वह सोचने लगा, पत्नी अभी भीतर काम कर रही है। अय्यो! बेचारी! घर का सारा काम उसी को करना होता है। मदद करने वाला कोई नही है। उसको कोई भी सुख नही है। इंदिरा? उसको सभी काम करने पडते थे, फिर भी सदा मुस्कराती रहती थी, पर उसे इतने बच्चों की झंझट न थी। बच्चे? ओह बच्चे! जिनके बच्चे नही हैं, वे बच्चे चाहते हैं। मुझे बच्चे हुए तो क्या मिला? अय्यो। उस शेड में जिस लड़के को डाल दिया गया था, वह क्या बिस्तरे में अब सोये हुए इन बच्चो की तरह मेरा लड़का न था? फिर भी सावित्री ने उस बच्चे को इन बच्चों की तरह माना नही। क्या इंदिरा ऐसा करती? कौन जाने?

इसी प्रकार सोचते-सोचते नारायण मूर्ति को झपकी आ गयी। दुःखी मन, थकी देह—दोनो को विश्राम की जरूरत होती है। यदि यह वर्णन न किया कि इंदिरा कैसी थी; तो उसके आने की बात सुनकर, उसके आने का सम्पूर्ण अर्थ आप समझ न पायेंगे। इंदिरा बड़ी सुन्दर थी। थोडा लम्बा मुख, रंग दूध के समान।

उसे देखने पर मन को बहुत सन्तोष होता। सन्तोष ही नही बल्कि यदि मन मे कोई बडा गुस्सा भी होता तो उड़ जाता। हमारे क्रोध तथा असन्तोष को दूर करने वाला यदि आ जाए, तो हमें पसन्द नही आता ? वे हमारे अपने होते है ना। इंदिरा का आना देखकर भी नारायण मूर्ति चुप ही रहा।

इंदिरा पास आयी। उसे चुप बैठे देखकर—"यह क्या ! इतनी जल्दी नीद आ गयी !" कहकर हँसते हुए उसके गाल को पकड़कर, उसके मुँह की ओर उसने देखा। "बात नही करेंगे ? तो इसका यही इलाज है।" कहते हुए वह उसकी गोद मे बैठ गयी।

प्रेम विवाद में असाधारण पाण्डित्य प्राप्त कर चुका। ताँबे और सोने मे जो अन्तर है वह अधिक है या प्रसन्नता और अप्रसन्नता के बीच का अन्तर ? तर्क से ताँबा सोना नही बन जाता। प्रेम अप्रसन्न को प्रसन्न, अविश्वासी को विश्वासी और दु:खी को सुखी बना सकता है। नक्षत्र की भाँति सुन्दर उस स्त्री के गोद मे बैठते ही नारायण मूर्ति का मन चन्द्र की भाँति शान्त हो गया। उसका क्रोध चला गया। असन्तोष भी मिट गया, उसका दु:ख भी मिट गया। नारायण मूर्ति ने शान्त होकर इंदिरा को आलिंगन मे ले लिया। बोला, "इंदिरा !"

"हटो भी, जब मैं बोली तब आपने बात नही की। अब आपके बुलाने पर मैं नही बोलूँगी। आप बीस बार 'इंदिरा-इंदिरा' कहकर बुलाइए तो भी मैं मुँह नही खोलूँगी।"

"इंदिरा······"

"मैंने कहा ना मैं मुँह नही खोलूँगी।"

"बिना मुँह खोले ही इतनी बातें करती हो तो···"

"फिर एक बार मेरा नाम लेकर पुकारें, इसलिए ही मैंने कहा था···"

"क्यो ?"

"आप मेरा नाम लेकर पुकारते हैं, तो मुझे बहुत अच्छा लगता है।"

"सचमुच ?"

"इसमें सच क्या और झूठ क्या।"

"तो इसे झूठ मान लें ?"

इंदिरा ने नारायण मूर्ति के कन्धे पर अपना सिर टिका रखा था। वह उसकी साँस को अपने गाल पर महसूस कर रहा था। उसने अपनी प्रियतमा का मुख हाथों में लेकर उसकी ओर देखा। सुन्दर-सा चेहरा, प्यारा-सा मुँह, आँखों में निस्सीम प्रेम, अगाध स्नेह। उसने पुन: उसे अपनी बाँहों मे लपेट लिया।

"मेरे 'इंदिरा' पुकारने से तुम्हारे इतने सन्तुष्ट होने की क्या बात है ?"

"कारण तो मुझे पता नही।"

"पता कैसे नही ? सच बताओ।"

"आप समझाइए, फिर मैं बताऊँगी।"

"समझाने पर बताने को तुम्हारे जैसी चतुर स्त्री की ही जरूरत है ?"

"तो मैं चतुर हो गयी ?"

"नही तो क्या ?"

"मैं अगर वीणा बजाऊँ तो आपको अच्छा लगेगा ?"

"तुम्हारी वीणा सुने बहुत दिन हो गये। बहुत अच्छा रहेगा।"

"क्यों ?"

"मधुर स्वरो के कारण।"

"वह स्वर किससे निकलते हैं ?"

"वीणा से।"

"वीणा से या मुझसे ? तुम्हारे 'इंदिरा' कहने से मेरे मन की वीणा बज उठती है। वह पुकारना मुझे गाने जैसा लगता है, इससे मुझे सन्तोष होता है।"

नारायण मूर्ति चुप रहा। इंदिरा भी चुप हो गयी। प्रेमियो को पास रहने मे और बिना बात करने मे जितना सुख मिलता है, उतना ही चुप रहने मे भी।

कुछ देर बाद नारायण मूर्ति ने पुकारा, "इंदिरा···"

"क्या ?"

"तुम मुझसे इतना प्रेम क्यों करती हो ?"

नारायण मूर्ति की यह इच्छा थी कि वह अपने मुँह से कहे कि वह उसे बहुत प्यार करती है। किस पति को यह इच्छा नहीं होती !

"मैं तुम्हें प्यार नही करती।"

"नही करती। क्यो ?" नारायण मूर्ति को उस समय असन्तोष हुआ क्योकि उसका अनपेक्षित उत्तर उसे मिल गया था।

"मुझे तुमसे प्यार नही है पर तुम्हारे लिए पागल हो जाती हूँ।" इतना कहकर मुस्कराते हुए इंदिरा ने नारायण मूर्ति के गाल पर गाल टिका दिया।

नारायण मूर्ति खुश हुआ। इंदिरा की इस छोटी-सी देह में कितना प्यार भरा था। उस प्रेम को दिखाने का यह ढंग ! मेरे लिए यह लड़की आवश्यकता पड़ने पर जान भी दे सकती है। 'इंदिरा, इंदिरा' उसने मन ही मन उसका नाम लिया।

ज्ञानी लोग 'ओ३म्' शब्द के बहुत से अर्थ बताते हैं। नारायण मूर्ति को लगा इंदिरा शब्द में अनन्त प्रेम, अनन्त विश्वास, अनन्त भक्ति, अनन्तदया, अनन्त मोह, अनन्त विलास भरा है। उसके हृदय का रक्त-संचालन 'इंदिरा' शब्द का अनुसरण कर रहा था।

प्रियतमा पति के कंधे पर अपना सिर रखकर उसके मुख की ओर चुपचाप निहारने लगी। नारायण मूर्ति उसे अपने हाथों में थामकर अपना सिर थोड़ा झुकाकर उसका मुख देखने लगा। पता नहीं इसी प्रकार कितना समय बीत गया, उसे पता ही न चला। कष्ट को जानते हुए केवल सुख का ही अनुभव करने वाले मन में जो शान्ति छाई रहती है, वही शान्ति नारायण मूर्ति के मन में भर गयी। ऐसी शान्ति मुश्किल से ही मिलती है। यदि मिल जाय तो उससे बढ़कर उपभोग्य स्थिति अथवा वस्तु और कौन सी हो सकती है? नारायण मूर्ति 'इंदिरा' के सामीप्य से उत्पन्न सुख से शान्त हुआ; तृप्त हुआ और चुप होकर बैठ गया।

यह शान्ति अधिक देर तक न टिकी। कुछ देर में नारायण मूर्ति के मन में कुछ ऐसा असन्तोष सा हुआ जिसे वह स्वयं ही न समझ पाया। इंदिरा अब पास बैठी थी, वह सुखी था। पूर्व प्राप्त सुख की वास्तविकता के बारे में सोचना मानव की प्रवृत्तियों में नहीं होता। प्राप्त सुख का कुछ देर तक अनुभव करने के उपरान्त नारायण मूर्ति ने उस बारे में सोचना आरम्भ किया। इससे पहले? इससे पहले क्या बात थी, यह नारायण मूर्ति को याद न था। बात भूल जाने पर भी उसके मन के अंतराल में अशान्ति उत्पन्न हो गयी थी। यह सोचते-सोचते उसे बात कुछ याद आयी पर अस्थिर स्मृति थी। बात याद आयी फिर भी वह दिमाग से हट गयी। वह अपने मन को टटोल रहा था। इस पर उसे पहले की बात याद आ गयी। इससे पहले? हाय भगवान्! वह शैड में पड़ा बच्चा, घर में पड़े छोटे बच्चे। उनकी माँ, उस बच्चे की माँ। इतनी बात याद आने के बाद एक बिजली-सी कौंध गयी। बाद की याद न आयी। उसने कहा, "इंदिरा!"

इंदिरा ने कहा, "क्या?"

"इंदिरा तुम कब आयी?"

"कोई आधा घण्टा हुआ।"

"इस कमरे में आये?"

"जी हाँ।"

"कहाँ से आयी?"

"ऐसा क्यों पूछ रहे हैं?"

"तुम कहाँ गयी थी?"

"मैं कहाँ गयी थी ?"

"यह क्या ? ऐसा लगता है, जैसे तुम्हे देखे बहुत दिन हो गये ।"

"अच्छा !"

"ठहरो । देखो । ज़रा याद आ रहा है । अब याद आ गया ।" उसने थोड़े गुस्से से इंदिरा को घूरकर देखते हुए कहा, "इंदिरा, तुम यहाँ हो ?"

"यह क्या कह रहे हैं, कैसी बाते कर रहे है ! यहाँ न होती तो यहाँ कैसे रहती ?"

"तो बताऊँ मुझे कौन-सी बात याद आयी ?"

"बताइए ।"

"मेरा तुम्हारा विवाह होना । एक घर बसाना, मेरे माता-पिता का हम लोगो के साथ रहना, यह सब ठीक है ना ?"

"जी ।"

"मेरी माँ गुज़र गयी । इसके बाद मेरे पिताजी भी चल बसे, अन्तिम समय मे उन्होने तुम्हें अपने पास बैठने को कहा था ।"

"हूँ ।"

"बेटा, बच्चे की ठीक से देख-भाल करना । बहू, बच्चे को ध्यान से रखना । यह बात उन्होने हम दोनो से कही थी ।"

"जी हाँ ।"

"हमने बच्चे को बहुत प्यार से पाला । मैं कभी-कभी उसे डाँट भी देता पर तुमने उसे कभी नही डाँटा; कभी नही मारा ।"

"आपने उसे डाँटा तो क्या हो गया; अक्ल सिखाने के लिए डाँटना ही पड़ता है ।"

"मैं यह बात इसलिए नही कह रहा हूँ । मै तो यह कह रहा था कि तुमने उसे कितने प्यार से पाला था । तभी एक दिन तुम्हें बुखार हो गया था ।"

"हाँ ।"

"मैंने तुम्हे ठीक कराने से लिए बहुत कुछ किया, पर ज्यो-ज्यों तुम कमज़ोर होती गयी त्यो-त्यो मेरा दिल फटने लगा । एक दिन···वह स्वप्न था या सच ?"

"क्या ?"

नारायण मूर्ति ने इंदिरा को ज़ोर से पकडकर कहा, "एक दिन तुम···"

"अरे, पगले कही के !"

"बच्चे की देखभाल करने वाला कोई न था, मैंने बहुत कष्ट उठाया इंदिरा, बहुत रोया, उसकी कोई थाह नही ।"

"अरे !"

"रो-रोकर पागल हो गया।"

नारायण मूर्ति एक क्षण भर को चुप हो गया। वह अब भी पागल जैसा ही हो गया था। यह ठीक था, कि इंदिरा उसके पास थी और वह उसके साथ था। पर उसे उस दिन कुछ हो गया था। क्या हुआ था? क्या हो गया, यह बात उसके मन मे उठ रही थी। यही सोचे जा रहा था, पर उसका कोई उत्तर न मिला।

नारायण मूर्ति जिस अर्ध-निद्रा की अवस्था मे था, उसमे मानव मन की अलग-अलग तहे होती हैं। कुछ तहे जागृत अवस्था मे रहती हैं और कुछ सुषुप्त। हम प्रतिदिन इंद्रियो के द्वारा जिन बातों को जानते हैं वे एक-एक तह मे जाकर बैठ जाती है। अर्ध-निद्रा मे या जागृत अवस्था मे उन तहों मे बैठी बातें याद हो आती है। शेष बातें याद नही आती। इस समय नारायण मूर्ति की स्थिति भी वही थी। सामान्य रूप में बहुत-सी बातो का अनुभव हुआ था और जो बाते मन मे बैठ गयी थी, उनकी याद हो आती। अति शोक से भरा एक अंश मन में कही सोया हुआ था। इस अर्ध-निद्रा की अवस्था मे स्मृति भी कम हो गयी थी। इंदिरा को क्या हो गया था यह उसे याद नही आया। बहुत प्रयास करने पर भी वह उसे याद न कर पाया। इतना उसे अवश्य लगा कि वह कुछ अशुभ और दुःखकर बात है।

"हूँ!"

"बहुत सोचा कोई हो तो बच्चे की देख-भाल करे। उसे कोई पूछने वाला ही नही था। पर समझ मे न आया क्या करूँ। एक महीने के बाद चाचाजी आये। उन्होने कहा कि एक लडकी है उससे शादी कर लो। मुझे दूसरी लडकी से शादी करने की इच्छा न थी। पता नही क्यो? इच्छा थी ही नहीं। चाचाजी ने बहुत कहा कि देखो भैया, लड़की बहुत सुन्दर है। उस लड़की को लाकर दिखाया भी सावित्री को। लड़की तो अच्छी थी, पर उससे शादी करने की मेरी इच्छा न थी।"

"हूँ।"

"मैं भी ऊब गया था इंदिरा, अकेला रहते-रहते। एक दिन चाचाजी फिर कहने लगे कि बेटा, तुम्हारा काम तो जैसे चाहे चल ही जाता है, पर बच्चे को तो देखो, उसकी कोई देख-भाल करने वाला नही। उस लडकी से शादी कर लो। वह बच्चे की भी सम्भाल लेगी और तुम्हारा सुख-दुःख भी देख लेगी।"

"हूँ।"

"उनकी बात मानकर शादी कर ली। सावित्री घर आयी। आने के बाद कुछ दिनों तक बिल्कुल तुम्हारी तरह रही। फिर सब कुछ बदल गया।

उसके एक बच्चा हो जाने के बाद लड़के की उपेक्षा करने लगी। मैंने उसके लिए उसे बुरा-भला कहा, वह गुस्सा हो गयी। तब से मेरे घर का सुख उड़ गया।"

इस बात का इंदिरा ने उत्तर न दिया। नारायण मूर्ति को लगा, वह रो रही है।

"उससे पैदा बच्चे और वह लडका मेरे लिए बराबर थे, पर उसके लिए उनमें अन्तर था। मैं कुछ न कर सका। वही खाना देने वाली थी। मैं क्या कर सकता था? वह जो कुछ करती, वह देखकर चुप रहता।"

इंदिरा कुछ न बोली।

"कल वह लडका कहीं से आया, उसे बुखार था। वह पड़ा रहा। डॉक्टर बुलाया। उसने प्लेग बताई। उसे घर में रखने में सबको छूत का डर था। शैड में रखने पर कोई देखने वाला न था। इन बच्चों का ध्यान रखूं कि उसका? मैं जब दुविधा में था तब सावित्री ने आकर उसे शैड में सुला देने को कहा।

"ले जाकर शैड में सुला दिया। चाचाजी उसके पास हैं। मैं रहना चाहता हूँ। पर उसे तो पसन्द नहीं। वह खुद वहाँ जाना चाहती है पर मेरा वहाँ रहना ठीक नहीं समझती। सावित्री बडी पत्थर दिल है। बड़ी ही पत्थर दिल वाली है वह इंदिरा।"

इंदिरा ने साँस तक नहीं ली।

"आज शाम को जाकर देखा। लडका छटपटा रहा था। मैं उसे देख नहीं सका। ये लोग भी गाँव में आखिरी घर में रहते हैं, इसलिए मैं चला आया। वह 'माँ, माँ' चिल्ला रहा था। हाय वह कितना तडप रहा था!"

"आप चिन्ता न करें, वह ठीक है।"

"मुझे तसल्ली देने को तुम ऐसा कह रही हो। शाम को तडपता हुआ बच्चा अब ठीक हो गया! खैर कोई बात नहीं, अब तो तुम आ गयी, तुम सम्भाल लोगी।"

"हाँ।"

"अब मुझे किसी बात की चिन्ता नहीं। तुम्हें देख लेने के बाद मेरे सब कष्ट दूर हो गये।

यह कहकर नारायण मूर्ति ने इंदिरा को गले लगाकर, प्यार करके पूछा, "अब लडका ठीक है?"

"ठीक है।"

"तुमने देखा?"

"क्या आप उसे देखना चाहते हैं?"

"कहाँ है ?"

"देखिए।"

इंदिरा ने अपनी उँगली से द्वार की ओर इशारा किया। नारायण मूर्ति ने उधर देखा। दरवाज़े के पास गोपाल था। वह रोगी नहीं था, ठीक-ठाक लग रहा था। नारायण मूर्ति को असीम आनन्द हुआ।

उसने खुशी से इंदिरा को देखने के लिए आँखें घुमाईं। इंदिरा का रूप अस्पष्ट-सा था। 'इंदिरा' कहते हुए उसने उसे पकड़ने का प्रयास किया। पहाड़ पर चढ़कर बादल को पकड़ने का प्रयास करने पर बालक के हाथ में जिस प्रकार बादल नहीं आते, उसी प्रकार इंदिरा उसकी पकड में न आयी। 'इंदिरा' कहते हुए वह जाग गया।

इंदिरा को मरे दस वर्ष हो गये थे। नारायण मूर्ति ने दस वर्ष पूर्व खोयी इंदिरा के वियोग को फिर से अनुभव किया। इंदिरा जीवन में बार-बार जो बातें कहा करती थी उन्हें स्वप्न में आज कहकर पुनः अदृश्य हो गयी। नारायण मूर्ति को पत्नी-वियोग के दुःख का अनुभव एक बार फिर से हुआ। लहराती हुई नदी की तरह दुःख मन के किनारे तोड़ बह निकला था। नारायण मूर्ति ने खिड़की से बाहर देखा। रात्रि शान्त थी। खूब चाँदनी थी। शुभ्र आकाश में चन्द्रमा अपनी प्रेयसी रूपी तारिकाओं के बीच आनन्द से विहार कर रहा था। उसकी आत्मा की शान्ति से संसार भर उठा था।

आहा! कैसी शान्ति!

चाँदनी रात के उसी शान्तिमय वातावरण में गोपाल अपनी माँ की शान्तिमय गोद पा गया था। इसका अनुभव नारायण मूर्ति न कर सका।

(प्रकाशन वर्ष : 1920)

परकाय प्रवेश

●●●● यह कोटिनिस साहब की डायरी का दूसरा भाग है।

श्रीराम रावण का संहार करके विभीषण का राज्याभिषेक करने के लिए लंका में प्रवेश करते समय नगर-द्वार पर एक नील-प्रस्तर खण्ड देखकर मुग्ध हो गये। उन्होंने सोचा कि जब यहीं पर मन इतना विचलित हो उठा है, तो भीतर का वैभव देखकर तो न जाने कौन-कौन सी इच्छाएँ जाग उठेंगी। इतना सोचकर वह लौट पड़े और लक्ष्मण ने भीतर जाकर विभीषण का अभिषेक कराया। यह सुन्दर कथा हिन्दुओं में प्रसिद्ध है।

यह देश हमारे लिए लंका के समान है। पर हम राम जैसे नहीं। धन ने कहा, 'सब कुछ छोडकर मेरे पीछे आओ।' लगता है पश्चिमी देशों के लोगों को पूर्वी देशों का यही बुलावा था। जब से इस देश में हमारी आवाजाही हुई है, तब से हम यहाँ की चीज़ों को एक-एक कर खिसका ले जाना चाहते हैं। जब भी किसी सुन्दर वस्तु पर हमारी नजर पडती है, हम उसे उडा ले जाना चाहते हैं। शाहजहाँ का तख्ते ताऊस नादिरशाह के साथ फारस चला गया। नादिरशाह दुबारा कभी नहीं आया। पर हम तो यहीं बस गये और हजारों नादिरशाहों की भाँति एक-एक चीज को उठाए लिए जा रहे हैं। इस देश की सभी प्राचीन, प्रसिद्ध और श्रेष्ठ वस्तुओं के पंख लगते जा रहे हैं। देश सूना होता जा रहा है।

मेरे ऐसा सोचने का कारण हाल की एक घटना है। कुछ दिन हुए मेरी बहिन एमिली अपने पति के साथ

को एक-सी सफाई से काटकर किनारों को मिलाकर सीढ़ियाँ बनाई गयी हैं। इस काम को देखने से लगता है कि इसके निर्माताओं मे अपने काम के प्रति श्रद्धा थी। वह काम उन्ही लोगो का है जो यह जानते थे कि वस्तु के निर्माण में क्या आनन्द होता है। अब ऊपर की सीढ़ियों में घास-फूस पैदा होने से पत्थर ढीले हो गये हैं। फिर भी निचले पत्थर मजबूत हैं। पानी की निचली सीढ़ियों की सतह पर इन विशाल पत्थरो को मिलाकर एक ही सतह पर बिठाने के लिए उन्होंने कितना प्रयास किया होगा। उस देवालय का भी क्या कहना! जिन्होंने ग्रीक मूर्तियो की सादगी और हमारे देश की रचनाओं की भव्यता को देखा है, वे ही यहाँ की सादगी को समझ-सराह सकते हैं। फिर भी मन्दिर का उठान अच्छा ही है। इसमें सभी काम बडी सफाई से हुआ है। दीवारें पत्थरों से बनी हुई हैं। चारो ओर एक-से पत्थर रखे गये है। इनमें भी अब कुछ ढीले पडते जा रहे हैं। मन्दिर मे एक मूर्ति है, पर बहुत दिनो से पूजा नही हुई है। यही नही दूर-दूर तक फैले हुए मकानो के खडहर इस बात के गवाह हैं कि यह एक बडा शहर था। बूढ़े ने इशारे से बताया, *"यहाँ ब्राह्मणो का, यहाँ वैश्यों का, यहाँ शूद्रों का* मुहल्ला था।" पर अब चारों ओर शून्य था। इधर-उधर टूटी दीवारें भर थी। यही देखकर हम लौट आये थे।

कल वसुमत्ति जाकर पता लगाया कि चित्र किसके घर मे हैं। पता चला कि वे उसी बूढ़े के पास है। बूढे को बुलाया। उसने बाहर आकर नमस्कार किया और भीतर चलने का अनुरोध किया। यहाँ के लोगो के चरित्र की यही विशेषता है। बूढे के व्यवहार मे स्वभावतः एक बडप्पन झलकता था। फर्के साहब ने कहा, "कृष्णय्या आप ही का शुभ नाम है क्या?"

"जी साहब।"

"आपसे कुछ काम है, इसलिए आये है।"

"आज्ञा कीजिए।"

"सुना है आपके पास बहुत सारे प्राचीन चित्र हैं, देखना चाहते हैं।"

"बहुत तो नहीं।"

"जो भी हैं वे ही दिखा दीजिए।"

"अच्छी बात है, आइए।"

हम जाकर बैठक मे बैठ गये।

बूढ़े ने भीतर से कुछ चित्र लाकर हमारे सामने रखे। कागज मामूली-सा था। कपड़े पर एक प्रकार की गोंद चिपकाकर बनाया था। लगता था चित्र बडे सहज रूप मे बनाये गये हैं। बनाकर कहीं-कहीं मिटाने के निशान भी कुछ मे थे। और कुछ चित्रो मे कुछ रेखाएँ मात्र थी परन्तु यह बात स्पष्ट थी कि कलाकार की तूलिका में बहुत ही सफाई थी। एक चित्र गोपालकृष्ण का था। चित्र को देखते ही

कोई भी सोच सकता था कि कलाकार के हृदय में गोपालकृष्ण के प्रति कैसी भावनाएँ रही होंगी। खड़े होने का वह बाँकपन, वह पदन्यास, बाँसुरी पकड़ने का वह ढंग, ओठों पर रखी बाँसुरी की वह मुद्रा, वह कनखियों की चितवन, एक ओर झुकने के कारण वक्ष पर पड़े हार का खिसक जाना—यह सब एक ओर रहा; जब बाँसुरी की ध्वनि गूँजती है तो और सभी प्रकार के शब्द थम जाते हैं; यह दिखाने के लिए पृष्ठभूमि में एक वृक्ष के निश्चल पत्तों का अंकन था, बाँसुरी सुनती प्रसन्न मस्त गायें, पास खड़े देवता, ऋषि, गोपियाँ आदि सबको देखने से ऐसा लगता था मानो कलाकार को साक्षात् भगवान् के दर्शन हुए थे। एमिली और फर्क को असीम सन्तोष हुआ। उन्होंने पूछा, "इसे किसने बनाया था?"

"हमारे दादा ने।"

"बहुत सशक्त कलाकार रहे होंगे।"

"ऐसे निपुण व्यक्ति फिर हमारे खानदान में पैदा नहीं हुए।"

"और कुछ बनाया था उन्होंने?"

"बहुत से चित्र बनाये, पर तीन चौथाई गोपालकृष्ण के ही थे। उनमें भगवान् के चित्रों के प्रति बड़ा उत्साह था। इतना सब बना लेने के बाद आखिर में यह बना।" इतना कहकर उसने भीतर से एक पेटी लाकर रखी। हमने खोल कर देखा तो उसमें तीन चौथाई चित्र गोपालकृष्ण के ही थे। एक दूसरे से थोड़े ही भिन्न थे। कहीं-कहीं तो अन्तर दीखता ही नहीं था, पर बारीकी से देखने पर थोड़ा-सा अन्तर लगता था। हम एक-एक करके देखने लगे। कुल सोलह चित्र थे। उसने कहा, "हर चित्र को बनाने के बाद शायद वे समझते थे कि इससे मुझे भगवान् के दर्शन न होंगे। और यही सोचकर दूसरा आरम्भ करते। इतने प्रयास के बाद यह बन पाया।"

फर्क ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, "तो यह चित्र बनाने के बाद उन्हें तृप्ति हुई क्या?"

"नहीं। कुछ दिनों के बाद उन्होंने एक और चित्र शुरू किया। शुरू करने से पहले दस-बारह दिन लगातार पूजा-पाठ और ध्यान करते रहे। उनका जीवन बड़ा विचित्र था। उस दिन पाठ करके कुएँ पर से स्नान करके लौटकर पत्नी से कहने लगे, 'लगता है आज भगवान् ने कृपा की है।' और उससे नारियल तोड़कर पूजा करने को कहकर स्वयं चित्र बनाने बैठ गये। दोपहर तक चित्र बनाते रहे। तब तक दादा के बड़े भाई भी पूजा की समाप्ति करके उनके पास आकर बैठ गये। घर के सभी बच्चे खाना खा चुके थे। 'कोई भी मेरी बाट न देखें' कहकर उन्होंने सबको भोजन कराया। तब पिताजी दादी के गर्भ में थे। दादा और उनके बड़े भाई भूखे ही रहे। 'अभी समाप्त होता है' कहते-कहते

शाम हो गयी। चित्र देखने से ऐसा ही लगता था। तभी आवाज आयी कि शत्रु सेना चढ आयी है। नगर-द्वार बंद कर दिये गये हैं। सब लोग किलेकी ओर चल पडे हैं। मेरे दादा बड़े जोशीले आदमी थे। 'शायद भगवान् की आज ऐसी ही इच्छा है कि यह चित्र मैं समाप्त न कर सकूँ' यह कहते हुए वे धनुष बाण लेकर तैयार हो गये। भोजन के लिए घर की स्त्रियों के आग्रह करने पर बोले, 'खाना किले के लिए इन्तजार कर सकता है, पर किला खाने के लिए नही।' बड़े भाई बोले, 'अभी आ जाएगा।' औरतो के आग्रह करने पर प्रसाद का एक केला मुँह में रखकर बोले, 'अभी आया जाता हूँ।' उस दिन कोई छोटी-मोटी सेना नही आयी थी। मुकाबले में समूचा नगर भी उठ खड़ा होता, तो भी कम था। शायद कुछ देने पर टल जाते पर मेरे दादा ठहरे जोशीले आदमी। किसी की न सुनी। किले पर लडते हुए शत्रुओ की गोली से घायल हो गये। तब तक खेतो मे काम करने वाले भी लौट आये। किसी प्रकार सेना को खदेड़ा। बात समाप्त हुई, मेरे दादा घर लाये गये। गोली सीने मे लगी थी, साँस चल रही थी। एक बार आँखें खोली। बड़े दादा देख रहे थे कि क़िले पर जाते समय जो बात कही थी, अब भी ध्यान मे थी। 'आ गया हूँ चित्र खत्म करना है,' इतना कहते-कहते प्राण-पखेरू उड़ गये। बड़े भाई ने छोटे को बेटे की तरह पाला पोसा था। खाने के लिए वे उनकी बाट देख रहे थे कि तभी यह सब कुछ हो गया। उनके विलाप से दिशाएँ गूँज उठीं, 'हाय रे! बच्चे को जाते समय दो कौर खाना भी नही खिला सका। तुझे ही मरने को भेज दिया।' उनका दुःख असीम था। सारे संस्कार हुए पर उसके बाद बड़े भाई की दशा कुछ अजीब-सी हो गयी थी। कुछ दिन बीते, तब भी भाई के इंतजार मे बैठे रहते, मानो वह अभी आ जाएगा। कहते, 'कभी न कभी वह अवश्य आ जाएगा।' पर भला यह कहाँ सम्भव था। पर आखिरी दम तक वे यही कहते रहे।"

"क्या अन्तिम दिन यही चित्र बना रहे थे?"

"नही, वह अन्दर है।"

"उसे लाइए।"

"उसे दिखाने के लिए बड़े दादा ने मनाही कर दी थी।"

"पर क्यो?"

"अधबना है, ग़लतियाँ हो सकती हैं। शायद देखने वाले अच्छा न कहें और कलाकारों के लिए यह अपमान की बात है। देखने वाले की भक्ति कम न हो जाए, इसलिए उसे दिखाने को मना किया है।"

"ओह! आपकी कहानी सुनकर तो कलाकार के लिए कोई भी कुछ नही कह सकता। दूसरे हम उस देवता के उपासक भी नही, इसलिए भक्ति कम होने की बात पैदा ही नही होती। लाइए तो सही, उसे एक बार देख लें।"

"अच्छी बात है। यदि सिर्फ़ साहब ही आते तो मैं न दिखाता पर मेम

साहब भी आयी हैं इसलिए लिये आता हूँ। बडे दादा के उसे किसी को न दिखाने के लिए कहने का एक और कारण है। मेरे दादा ने मरते समय कहा था, मैं फिर आऊँगा। इसलिए उनका यह दृढ विश्वास था कि वे फिर आयेंगे और अपने अधूरे चित्र को पूरा करेंगे।"

"क्या उन्होने कहा था, फिर आऊँगा ?"

"पता नही। बडे दादा यही कहते थे। कहते थे, हमारे दादाजी फिर जन्म लेंगे और बड़े होकर इसे पूरा करेंगे। इसलिए ही उन्होने कहा था जब तक वे आकर इसे पूरा न करें तब तक यह चित्र किसी को न दिखाया जाए। जब तक वे रहे यह चित्र किसी को नही दिखाया। मेरे बीस वर्ष के होने तक बडे दादा जिन्दा थे। मेरे पिताजी में चित्रकला के प्रति सम्मान है या नही, मेरे दादा ने यह बात जाँची पर उनका झुकाव उस ओर न था। जब मैं बच्चा था तब मुझे भी उस ओर खीचने का प्रयास किया पर मेरी भी रुचि न थी। 'पता नही उसे पूरा करने वाला कब आयेगा, इसे संभालकर रखना।' यही कहते-कहते उन्होने प्राण त्यागे। मेरे पिताजी ने उसे एक बार मेरे गुरुजी को दिखाया था। मेम साहब का मुँह देखकर ऐसा लगता है कि वे उसे देख सकती हैं।" यह कहकर बूढ़ा अन्दर गया और उसने दो चित्र हमारे सामने लाकर रखे। चित्र देखकर मुझे सचमुच आश्चर्य हुआ, पता नही उसमें कलाकार ने क्या कमाल किया था। ऐसा लगा कि चित्र मे हवा को भी अंकित किया गया है। लगा उसमे भगवान् की बाँसुरी की ध्वनि की तरंगें फैलती जा रही थी। कृष्ण की आकृति भी उतनी ही सुन्दर थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो कृष्ण चित्र से बाहर निकलकर चलने ही वाले हो। सभी बातें पहले वाले चित्र की तरह दीखने पर भी, लगता था कि कही कुछ अन्तर अवश्य है। चित्रों में एक विलक्षण नवीनता थी। ये चित्र लगभग अस्सी वर्ष पहले बने थे फिर भी उनके रंगो की चमक घटी न थी। इसका रंग ज़रा भी हल्का नही पडा था। हम दोनो की अपेक्षा एमिली के कौतूहल की कोई सीमा न थी। वह साँस रोककर चुपचाप चित्रों को ही घूरे जा रही थी।

"यह वही अधबना चित्र है क्या ?"

"यह वह नही है।"

बूढ़े ने उस चित्र पर दूसरा चित्र उठाकर रखा।

एमिली सहसा चीख पड़ी, आश्चर्य है, चित्र वही था पर उसमे और भी कमाल किया था। हम सब कुछ देर तक चुपचाप देखते ही रह गये।

फर्के ने पूछा, "क्या यह भी उसी तरह गाय के पास से शुरू किया गया था और बीच में ही रुक गया ?"

बूढ़े ने बताया, "जब वह बना रहे थे तभी सेना के आक्रमण का समाचार

सुनकर इसे यहीं छोड़कर वे चले गये। थोड़ा और समय मिलता तो यह चित्र पूरा हो जाता। वे इसे किस तरह पूरा करते कैसे कहा जा सकता है!"

चित्र को ध्यान से देखने पर लगता था मानो वह किसी और ही गाय का चित्र है। पर निश्चित रूप से गाय है। एमिली उसी को देख रही थी। मैंने पूछा, "वह क्या हो सकता है, क्या किसी ने नहीं बताया ?"

बूढ़ा बोला, "मेरा एक देवता है। उसने बतलाया था, पर अभी तक किसी को कुछ नहीं सूझा।"

बूढ़े से पूछा, "यदि आप इस चित्र को बेच दें तो मैं इसे अपने यहाँ ले जाकर आपके दादा के यश का प्रचार करूँगा, दे सकेंगे ?..."

बूढ़ा . "साहब, हमारे दादा ने तो इसे किसी और को दिखाने तक के लिए भी मना किया था। भला हम इसे कैसे बेच सकते हैं ?"

फर्क : "मैं अपने स्वार्थ के लिए नहीं कह रहा, आपके दादाजी की ही ख्याति होगी। आपका गांव और देश मशहूर होंगे।"

बूढ़ा : "और उन्होंने जो फिर आने को कहा था, आ जाएँ तो ?"

फर्क : *"फिर कैसे आ सकते हैं दादाजी, हमें भी तो कुछ सोचना चाहिए।"*

बूढ़ा : "साहब, हमारे सोचने की इसमें क्या बात है ? उन्होंने जो कुछ कहा था वे ही समझते होंगे। हम उसका मतलब कैसे लगा सकते हैं ? यदि यह चित्र यहाँ रहेगा तो किसी न किसी रूप में कभी न कभी शायद बड़ों की बात पूरी हो सकेगी। आगे ईश्वर की इच्छा।"

फर्क : "ठीक से सोच लीजिए। हम चार-पाँच दिन बाद फिर आयेंगे। तब अपना फैसला बता दीजिएगा।"

एमिली का ध्यान बातचीत की ओर बिल्कुल न था। उसने मेरी ओर देख कर कहा, "मैं बताऊँ, यहाँ क्या बनाने वाले थे ?"

मैंने कहा, "बताओ।"

एमिली ने कहा, "यहाँ एक बछड़ा दौड़ता हुआ दूध पीने आ रहा होगा तभी भगवान् बाँसुरी पर अपनी तान छेड़ देते हैं और वह सुनता हुआ तल्लीन खड़ा रह जाता है। माँ का दूध पीकर भी भूख लगती है परन्तु इस तान के *अमृत-पान से फिर भूख कैसे लगेगी। इन सब में उस क्षण तान के आरम्भ होने* की भावना को सूचित किया गया है। यह सामान्य नियम का पालन करते हुए बनाया गया है। तभी, तान आरम्भ हुई है यही दिखाने के लिए फिर यह बनाया गया है।..."

बूढ़ा : "तो हमारे बच्चे की बात ठीक है!"

हमने पूछा : "उसने क्या कहा था ?"

बूढ़ा : "यही कि जब भगवान् ने कुछ सोचकर तान छेड़ने के लिए बाँसुरी

होठ पर रखी तो हवा में ही सिहरन शुरू हो गयी। दूध पीने के लिए आया बछडा दूध पीना भूलकर स्तब्ध खडा रह गया। मेम साहब भी यही बात कह रही हैं।"

लड़के की प्रतिभा के बारे में हमें आश्चर्य हुआ। वास्तव में चित्र में लगता था कि हवा मे कम्पन हुआ है। भगवान् के मुँह पर नया भाव झलक रहा है।

फर्क, "उस बच्चे को इस काम के लिए तैयार कीजिए, बाबाजी। वह उन्नति करेगा। यह चित्र हमे देने की बात सोचकर बताइए। हम चार-पाँच रोज़ में फिर आयेंगे।"

एमिली कुछ कहने जा रही थी पर रुक गयी।

बूढ़े ने, "अच्छा" कहकर पान-सुपारी पेश की। हम सब लौट आये।

हमने वहाँ जाने का विचार छोड़ दिया था। बूढा धन के लोभ मे चित्र दे भी सकता था और हमें चित्र का लोभ था पर फिर भी हम गये नही, उसका भी एक कारण है।

जब हम वापस आ रहे थे, एमिली पुष्करिणी के किनारे थोडी देर के लिए बैठी। साथ लाया हुआ खाना फर्क ने निकाला। हम तीनों खाना खाकर चाय पी रहे थे। तब एमिली बोली—"भैया इस तालाब को देखा है, कितना अच्छा है!"

मैं बोला, "अच्छा है, पर पानी नहीं है। इसके अलावा पत्थर कहीं-कहीं निकलते जा रहे हैं। यह देखो, शायद कोई घर बनाने के लिए सिल निकालकर ले गया है।"

"भैया, वे जो कर रहे है, हम भी वही करने जा रहे है। देखो, जब इसमें पानी नही होता तो कोई बात नहीं, बना अच्छा है। घास-फूल निकालकर अगर ठीक से रखा जाय तो पानी आज नही तो दो-चार साल बाद आ जाएगा। तब तालाब सुन्दर लगेगा। अब भी मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ से पानी सूख गया है वहाँ आज भी पानी भरने वाली गाँव की लडकियों की पायलों की गूँज बाकी है। लगता है जैसे अब भी वे यहाँ आ-जा रही हों। तालाब है तो पानी भी आ सकता है और सुन्दरियाँ भी। अब अगर यह सोचें कि तालाब कैसे सूख गया है तो सीधी-सी बात है कि सब एक-एक पत्थर ढोकर ले जाएँगे तो पानी आयेगा तो ठहरेगा कैसे और फिर एक दिन इस तरह से तालाब रहेगा भी नही।"

"हाँ एमिली, पर तुम कहना क्या चाहती हो?"

"चित्र अच्छा है तो चित्र, मूर्ति अच्छी है तो मूर्ति, और दूसरी बहुत-सी चीजें अच्छी हैं यह देखकर उन सब चीजों को उठाकर ले जाया जाय, तो देश और लोग बिगड़ जाते हैं। हम इस प्रकार इसका क्या उद्धार कर सकते हैं?"

"हम तो यही सोचकर वह चित्र ले जाना चाहते हैं कि इस देश की ख्याति

हो।"

"वहाँ प्रसिद्धि मिलने पर यहाँ क्या लाभ होगा? कहने को तो हम यह कहें कि इस लड़के को इस कला में बढ़ावा दो और इस चित्र को अपने साथ ले जाएँ तो हमने क्या सहायता की?"

बाद में हम तीनों घोडों पर चढ़कर नगर की ओर चल पड़े। कुछ दूर आने पर एमिली ने कहा, "भैया, क्या आपने सुना है, इन लोगों में यह विश्वास है कि एक शरीर से प्राण निकल जाने पर उस शरीर में दूसरी आत्मा भी प्रवेश कर जाती है?"

"सुना है।"

"इसी को परकाय प्रवेश कहते हैं। जब जीव बाहर गया हो तब शरीर को छिपा देने से जीव आकर व्याकुल हो मंडराते हैं।"

"हाँ।"

"भैया ये लोग जिसे भारतमाता कहते हैं, वह सुन्दरी आजकल सन्निपात में पड़ी है। बच्चे चारों ओर बैठे 'माँ' कहते हुए रो रहे हैं। देह देखने पर उसमें इतनी कान्ति है कि जीव अभी-अभी लौटकर आ सकता है। ऐसे समय में शरीर को चूड़ियों, अँगूठी, नथ से पहचानेगा। शरीर को ले जाने से ऐसा ही होता है। 'माँ, माँ' करके बच्चे इसी भाव से क्रन्दन कर रहे हैं कि माँ में कभी जीव लौट कर आ ही जाएगा। लौट आने पर यदि देह न मिला तो वह व्याकुल हो जाएगा, भैया। हमें ऐसा नहीं करना चाहिए।" जब एमिली यह कह रही थी तब उसकी आँखों में आँसू झलक आये थे। फर्क ने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया था मानो उसे सहसा अपने बच्चे जार्ज की याद हो आयी हो।

आगे हम आपस में कोई बात किये बिना लौट पड़े। इसलिए दुबारा चित्र माँगने नहीं गये।

मुझे संदेह हुआ कि इनकी नागरिकता अविकसित है—यह सोचकर अगर हम अपनी नागरिकता का प्रचार करने लगेंगे तो वह 'परकाय प्रवेश' के समान दुःख का कारण होगा।

(प्रकाशन वर्ष : 1924)

निजगल की रानी

• • • • • दो सौ वर्ष पूर्व हमारे देश में इधर-उधर छोटे-छोटे कई रजवाडे थे। उनमे से निजगल भी एक था। उस ज़माने में मराठे यदा-कदा मैसूर पर सेना लेकर आते थे। महाराष्ट्र से बंगलोर की ओर आने के लिए रास्ते में निजगल पडता था। जब मराठे सेना लेकर आते तब निजगल के सामन्त उन्हे कर देकर उनके साथ अपनी सेना भी सहायता के लिए भेजते अथवा उन्हें मैसूर राज्य के सामन्तों के रूप मे मराठो के साथ लड़ना पड़ता था। देश की स्थिति के अनुसार सामन्त लोग अपनी इच्छा के अनुसार इन दोनों में से एक रास्ता अपनाते थे।

निजगल का सामन्त रामरस नायक उस समय के सामन्तो मे प्रसिद्ध था। वह अपने पिता तिम्मरस के बाद गद्दी पर बैठा था। गद्दी पर बैठते समय वह लगभग पच्चीस वर्ष का था। उसने बहुत जल्दी ही सामन्तो में अच्छा नाम पा लिया था। वह अपने प्रदेश मे पचास गाँवों को छोड़कर किसी से कर वसूल नही करता था। अपने ग्रामो में भी पहले से जो मिलता उसी की वसूली करता, इसके बदले वह उन ग्रामों की बाहर के आक्रमणों से रक्षा करता। केवल बड़ी सेना आने पर वह अपने इलाक़ो की रक्षा के लिए नही जाता। ग्राम के लोग भी ऐसे मौके पर उसकी रक्षा की अपेक्षा नही करते। नायक सही ढंग से जो कर वसूल होता उसमे से कुछ हिस्सा मैसूर को भेजकर मैसूर के सामन्त के रूप मे रहता।

रामरस की दो पत्नियाँ थी। पहली पत्नी का नाम

था लकुमा, और दूसरी का गिरिजा। गद्दी पर बैठने से कुछ समय पूर्व ही रामरस ने लकुमा से विवाह किया था। दस वर्ष बीतने पर भी उन्हें कोई बच्चा नहीं हुआ। उन दिनों भी सामन्तो मे पिता के साथ सहयोग देने वाला बेटा न होता तो वंश आगे चल नही पाता था। रामरस का कोई भाई नहीं था। बच्चा न होने के कारण नायक को यह चिन्ता हुई कि मेरे बाद यह वंश समाप्त हो जाएगा। संतान की इच्छा से आमतौर पर जो-जो किया जा सकता था वह सब उसने किया। उसने कुएँ खुदवाये, पेड़ लगवाये, मंडप बनवाये, भगवान् की पूजा की, गाँव मे पूर्वकाल में बने श्रीराम मन्दिर की मरम्मत कराके वहाँ पूजा के लिए अच्छा प्रबन्ध किया परन्तु बच्चा नहीं हुआ।

ऐसी परिस्थिति में गाँव के प्रमुखो ने जनता की ओर से प्रार्थना की, नायक अपने रिश्तेदारो में से किसी लडके को दत्तक ले। रामरस ने इसे स्वीकार नहीं किया। यह जानकर लकुमा ने रिश्तेदारों की एक लड़की गिरिजा को महलों में लाकर रखा और दो-तीन वर्ष पालने के बाद उसे राजा के सामने लायी और उससे विवाह करने की प्रार्थना की। आरम्भ में रामरस ने मर्यादा के कारण अथवा सचमुच इनकार कर दिया। लकुमा बोली, "मैंने दस साल तक आपकी सेवा की, आपने मुझे एक तोते के समान प्यार से पाला और मुझसे आपका वंश आगे नही बढ़ा। मेरा भाग्य भी ऐसा नहीं। यदि मेरे भाग्य में नहीं है तो वंश क्यो यहीं समाप्त हो जाए। इससे विवाह कर लीजिए। इससे एक बच्चा हो जाए तो घर बच जाएगा।" नायक ने पूछा, "यदि वह तुम्हारा निरादर करे?" तब लकुमा बोली, "मेरे हाथ से पली लड़की मेरा निरादर क्या करेगी! मैं जो दूँगी वह खाएगी और मेरे कहने के मुताबिक चलेगी। इसकी चिन्ता आप न करें।" रामरस ने उसकी बात मान ली और उसने गिरिजा से विवाह कर लिया।

गिरिजा बड़ी सुन्दर लड़की थी। विवाह के समय से उसने नायक और लकुमा की सेवा-सुश्रूषा को अपना मुख्य काम समझा था। नायक की शंका के विपरीत उसने लकुमा का निरादर नहीं किया। सम्बन्धियो ने तो बड़ी रानी को एक तरफ़ रखने का प्रयत्न किया, गिरिजा के भी कान भरे पर गिरिजा ने तो यही कहा, "घर उसका है। उसने अपने आप यह स्थान मुझे दिया है। वह जो देती है उसका केवल आधा भाग मेरा है, मुझे उसका कर्ज़ा उतारना है। मैं पापी क्यों बनूँ?" गिरिजा के इस प्रकार के व्यवहार से गृहस्थी में प्रतिदिन सुख की वृद्धि होने लगी। लकुमा बाहर से धैर्य तो दिखाती थी पर उसके मन में आरम्भ में यह शंका थी कि पता नहीं यह लड़की क्या करे। एक वर्ष तक गिरिजा के व्यवहार को देखकर उसे अपनी योजना पर प्रसन्नता हुई। गिरिजा को अपनी बेटी के समान देखते हुए उसके

लिए आभूषण अपने आप बनवा देती और इस बात का भी ध्यान रखती कि रामरस गृहस्थी में किसी बात की कमी का अनुभव न करें। वह व्रत पूजा में अपने दिन बिताने लगी।

नायक और उसकी रानियों मे परस्पर कोई द्वेष न था पर यह बात न थी कि महल मे सभी बातें पूर्ववत् थी। विवाह तक तो गिरिजा अकेली थी पर बाद में उसका एक छोटा भाई और उसकी माँ राजमहल में आकर रहने लगे। उस माँ ने ही लकुमा का निरादर करने के लिए गिरिजा के कान भरे। गिरिजा के उसकी बात न मानने पर उसने महल मे दूसरे लोगो के साथ लकुमा के बारे में छोटी बातें करना शुरू किया, लकुमा अपने गुणो से सबके लिए माँ के समान थी। इसलिए उसने सोचा कि समय पर अपने-आप ठीक हो जाएगा। गिरिजा का भाई कस्तूरी नायक, जो गाँव का लफंगा था और जिसे रोटी भी मयस्सर न थी, राजमहल का खाना खाकर लफगे के समान ही बढने लगा। राजा का साला होने से वह जो मर्जी कर सकता था। राजमहल मे एक-दो बार इस बात की चर्चा भी रही कि वह गाँव के बदमाशों के साथ रहता है और उसने अच्छे परिवार की लड़कियों से छेड़छाड़ भी की है। नायक और लकुमा ऐसी बदमाशी के लिए खुली छूट देने वाले न थे। राजा ने कस्तूरी नायक को एक-दो बार डाँटा भी। गिरिजा यह सोचकर सब सहन करती रही कि माँ और भाई का व्यवहार तो ठीक नहीं पर उसके राजमहल मे रहते बेचारे वे क्यों गाँव में रहें।

विवाह के दूसरे वर्ष गिरिजा ने एक बच्चे को जन्म दिया। इससे नायक और लकुमा को भी बहुत प्रसन्नता हुई। सारे गाँव के लोग खुश हुए। सभी गाँव के मन्दिरो में विशेष पूजा हुई। यह सोचकर सब निश्चित हुए कि अब नायक का वंश आगे चल पडा।

उन्ही दिनो सदाशिवराय के नेतृत्व मे मराठा सेना घुस आयी: रामरस नायक के गद्दी पर बैठने के बाद भी वे एक-दो बार आये थे। पहली बार जब मराठो की सेना आयी तब नायक ने यह कह दिया कि वह मैसूर का सामन्त है। यदि मराठे मैसूर को जीत लें तो वह उनका सामन्त बन जाएगा और मैसूर को जो कर दे रहा है वह मराठो को देगा। उन्होने यह माना नही और किले को घेरकर जनता को तंग करना आरम्भ किया। जनता ने सदा की भाँति घर-बार छोड़कर जंगल की शरण ली। गाँव वालो को जगल मे भगाकर मराठों कोई लाभ नही हुआ। रामरस तो किले के भीतर डटा रहा और उनसे कहला दिया, "तुम जो चाहो कर लो।" रामरस के इस साहस का कारण निजगल किले का मजबूत होना ही था। पाँच दिन तक देखकर आसानी से काबू में आने वाले दूसरे इलाको पर आक्रमण करने के लिए निजगल को छोड़कर चले गये। रामरस बड़ी आसानी से बच गया।

वे दूसरी बार भी घुस आये, रामरस ने आस-पास के लोगों को कहला भेजा और उन्हें किले से एक मील दूर पर अपनी सेना का पड़ाव डालने को कहा और यह खबर फैला दी कि यह मैसूर की ओर से आयी सेना है। और अब मैसूर से और भी कुमुक आयेगी। मराठों ने सोचा कि किसी प्रकार इस किले के अन्दर प्रवेश हो जाए तो भविष्य में यहाँ से आगे बढ़ने के लिए सदा के लिए हमारे लिए यह एक अच्छा कैम्प सिद्ध होगा। इसलिए उन्होंने किसी तरह उसका दरवाजा खोलने का प्रयत्न किया। जनता रामरस का बुरा नहीं चाहती थी इसलिए दस दिन तक इंतज़ार करने पर भी मराठों को कोई लाभ नहीं हुआ। इतने में एक रास्ते से आगे गये हुए मराठों के प्रमुख सेनापति ने इस टुकड़ी को अपने साथ आकर मिलने की आज्ञा भेज दी। इस बार भी कुछ हाथ न लगने के कारण मराठों को लौटना पड़ा। मराठे तीसरी बार भी आये। इससे पूर्व पहली दोनों बार रामरस ने कर तो नहीं दिया पर डर से किले में ही घुसा रहा। यही सोचकर मराठों की बहुत कम सेना आयी थी। पिछले परिश्रमों से रामरस नायक को कुछ फायदा ही हुआ था। वह आस-पड़ोस के दो-तीन सामन्तों की सहायता से सेना इकट्ठी करके उसका अगुआ बनकर मराठों से भिड़ जाने की तैयारी में था। उनकी सेना कम होने से उसकी यह योजना लाभकारी ही रही। आरम्भ में तीन दिनों में उसने कहला भेजा था कि वह कुछ नहीं देगा जिसे वे मानने को तैयार नहीं थे। चौथे दिन सुबह मराठों के उठकर आँखें मलने से पहले रामरस ने उन पर आक्रमण कर दिया। मराठे दुम दबाकर भाग निकले।

इसके कुछ दिन बाद राजा के बेटे का जन्मदिन आया। मराठों से जीतने तथा राजकुमार के जन्मदिन की खुशी से जनता के उत्साह का कोई ठिकाना न था। पर गाँव में पूजा-पाठ बड़ी धूम-धाम से हुए। पाँच-छ: दिन तक गाँव के गरीबों और ब्राह्मणों को खाना खिलाया गया, सारे गाँव में भजन हुए। मुख्य उत्सव राजमहल की ओर से हुए। रामरस नायक ने भगवान् की बड़ी विनम्रता से पूजा की। जब बुजुर्ग और धनिकों में भक्ति की भावना दिखाई देती है तो जनता उन्हें अत्यन्त प्रेम और गौरव की भावना से देखती है। रामरस ने इन कारणों से प्रजा का विश्वास सदा से अधिक प्राप्त किया।

जब गाँव में तीज त्योहार अधिक होते हैं तो सारे काम ठीक ही नहीं होते। तब भले लोगों के साथ दुष्ट भी लाभ उठाते हैं। निजगल के इन उत्सवों में गाँव के दुष्टों की एक मंडली ने भी खूब मजा लूटा। इनका मुखिया कस्तूरी नायक ही था। रात को एक जगह एकत्र होकर खूब शराब उड़ाई और दो-तीन दिन अपनी मनमानी की। यह बात रामरस नायक के कान में पड़ी तो उसने गिरिजा से अपने भाई को समझाने के लिए कहा। गिरिजा ने भाई से यह बात कही। वह गरज पड़ा, "मैं खुश रहता हूँ तो आपको बुरा क्यों लगता है।" उस रात को

ज्यादा शराब खर्च हुई। कस्तूरी को अपना होश न रहा। भगवान् के उत्सव की गड़बड में उसने और उसके साथियो ने किसी एक अच्छे घर की स्त्री को छेडा। जनता इसे सहन नहीं कर सकी। उन्होने सीधा राजा से कहा, "आपके साले से हमारे घरो की इज्जत बच नही सकती।" दूसरे दिन राजा ने कस्तूरी को सभा मे बुलाया। जो बातें हुई थी उनकी पचो के सामने तहकीकात की। यह सिद्ध होने पर कि उसके साले की गलती है राजा ने उसको डांटा और चेतावनी देते हुए कहा, "आगे ऐसा नही होना चाहिए, यदि ऐसा हुआ तो कठोर दंड दिया जाएगा।" बाद मे उसने महल में गिरिजा से भी कहा, "तुम्हारे भाई से मेरी इज्जत बच नही सकती।" गिरिजा इससे पहले ही अपने भाई को गाँव भेज देने की सोच रही थी। उस दिन नायक की बातें सुनकर बोली, "भाई को गाँव भेज दूँगी।" लकुमा ने बीच में ही कहा, "कस्तूरी की गलती है पर वह अभी लड़का है, उसे अभी समझा देना चाहिए और आगे से ऐसा काम करने से रोकने का प्रयास करना चाहिए।" गिरिजा को चुप रहना पडा।

सभा में सबके सामने डाँट पड़ने से कस्तूरी को बडा गुस्सा आया। वह यह न सोचते हुए कि उसका अपराध कितना बड़ा था, अपनी माँ से कहने लगा, "यदि मेरी गलती थी तो मुझे अलग बुलाकर समझाना था। सबके सामने मेरा अपमान कर दिया।" तब उसकी माँ बोली, "राजा को एक बेटा चाहिए था इसलिए उसने तुम्हारी बहिन से शादी की, रानी बनाने के लिए नहीं। वास्तव मे अब भी लकुमा ही रानी है। तुम्हारी बहिन को किसी प्रकार की स्वतंत्रता नही है। यदि होती तो क्या राजा तुम्हे इस प्रकार डाँट सकता था? उसका व्यवहार ही कुछ और प्रकार का होता। सब कुछ बड़ी रानी के हाथ मे है। इसीलिए राजा तुम्हारे साथ ऐसा व्यवहार करता है। उसी ने उकसाया होगा।" कस्तूरी को लकुमा पर बडा क्रोध आया। इसके अतिरिक्त जब से सभा में डाँट पडी तब से दुष्टों के समुदाय मे उसका आदर भी कम हो गया। वह यह सोचने लगा कि राजा और लकुमा पर किस प्रकार गुस्सा उतारना चाहिए। उसे यह ध्यान नही आया कि जो वह सोच रहा है उससे अपनी सगी बहिन की भी हानि होगी। ऐसे लोगों की बुद्धि बहुत दूर तक नही देखती।

तीसरी बार मराठों की सेना पहले से तिगुनी संख्या मे आयी क्योंकि उन्हें एक महीना पहले थोड़ी संख्या होने से अच्छा सबक मिल चुका था। रामरस नायक इसके लिए तैयार भी नही था। किले मे तो पर्याप्त अन्न था। नायक ने पड़ोस के सामन्तो से सहायता माँगने के लिए दूतों को दौड़ाया। वह यह भी सोचने लगा कि शत्रु को किस प्रकार रोका जाए। एक दूत को मैसूर भेजा। उसने निश्चय किया कि गाँव के लोगो को जोश दिलाकर अपनी सेना को

संगठित करके शत्रु पर टूट पडना चाहिए। ऐसे काम के लिए सभी लोगों के साथ बदमाशो की भी आवश्यकता पडती है। इस मौके पर कस्तूरी ने डींग मारी कि वह इस समय बहुत कुछ कर सकता है। राजा इससे प्रभावित हुआ। कस्तूरी के कहने पर ही सेना को इकट्ठा करने के काम मे भी ढील हो गयी।

आरम्भ में तो कस्तूरी के मन मे राजा को अपना साहस और शक्ति दिखाने का विचार था पर ज्योही कुछ लोग उसके कहने के अनुसार चलने लगे त्योही उसके मन में यही कुविचार आया कि वह राजा से भी शक्तिशाली है। राजा किस काम का आदमी है, इसे ही क्यो राज्य करना चाहिए ? मैं क्यों नही कर सकता ? मराठो के सेनापति से मिलकर यह क्यों न कहूँ कि वह राजा को कैद करके मुझे सामन्त स्वीकार कर लें। तीन दिन सोचने के बाद उसने यही करने का निश्चय किया। तीसरे दिन उसने राजा को यह साहस दिलाते हुए कहा कि वह जनता को इकट्ठा कर लेगा।

रामरस को बडी प्रसन्नता हुई। इसकी बात मानकर वह बोला, "तुम यदि अपना बचपना छोड दो तो यहाँ एक सामन्त के समान रह सकते हो। तुम्हे किस बात की कमी है।" उस रात यथा प्रकार किले का निरीक्षण करने के लिए जाते समय रामरस कस्तूरी को भी साथ ले गया। इससे कस्तूरी को पहरे आदि की कुछ गुप्त बातो का परिचय मिला। उसी दिन रात को वह मराठों से जाकर मिला और यह कहा कि अगली रात को वह किले का दरवाज़ा खोल देगा। मराठे भीतर प्रवेश कर सकते हैं। वे रामरस को कैद कर सकते हैं। परन्तु उसे जान से नही मारेंगे। उसके बाद इसे सामन्त बनाएँगे।

दूसरे दिन रात को रामरस रोज की भाँति मैसूर गये दूत की प्रतीक्षा करता रहा। बाद में पडोसी सामन्तो से आये अनमने उत्तर को भी देखा और फिर इसी चिन्ता में सो गया कि मराठो का अधिकार स्वीकार कर ले अथवा क्या करे। गाँव की सारी जनता सोयी हुई थी। वह यही सोचती थी कि शत्रु कितने दिन तक घेरा डालकर बैठेगा। उस दिन कस्तूरी ने किले के फाटक पर अपने लोगो के पहरे पर रहने का प्रबन्ध किया। जब चारों ओर शान्ति थी तब इसने ऊपर के फाटक का द्वार खोलकर शत्रु को अन्दर घुसने दिया। शत्रु सेना ने बिना शोर किये अन्दर घुसकर मुख्य-मुख्य स्थानो को घेर लिया। अन्त में राजमहल के सामने जयघोष करके कुछ लोग अन्दर घुसे।

शोर सुनकर रामरस तलवार लेकर बाहर आया। पहरे वाले लोग खंजर और भाले लेकर खड़े थे। शत्रु सभी ओर से घुस रहे थे। झुण्ड में कस्तूरी को देखकर रामरस ने कहा, "क्या हो गया कस्तूरी, जनता को आवाज़ दो, चलो।"

कस्तूरी ने मराठों को इशारा करके उसे पकड़ने को कहा। वे पकड़ने को आये। मराठो को देखकर रामरस उन्हें घायल करते हुए लड़ने लगा। पर वह अकेला था और उस पर टूटने वाले अनेक थे। उनमें से एक ने अपनी तलवार उसकी छाती मे भोक दी। तब रामरस 'शिव-शिव' कहते ज़मीन पर लुढक पड़ा। शत्रु आगे बढ़े। राजा को सेवक एक तरफ ले गये।

किले पर मराठों का अधिकार हो गया। राजमहल मे सब लोग उठ खडे हुए। कुछ लोगो को यह समझ मे नहीं आया कि क्या करें और कुछ लोग भाग निकले। इस प्रकार रात बीत गयी।

कस्तूरी नायक ने देश को मराठों के हाथ दे दिया, यह खबर चारो ओर फैल गयी। गिरिजा को इस बात का बड़ा दु.ख हुआ कि उसी के भाई से यह अनर्थ हुआ। वह इस घर के लिए एक महामारी सिद्ध हुई। लकुमा ने मन्त्रियो से पूछा, "क्या करना चाहिए ? क्या मराठों को कर दें?" तब उन्होंने बताया, "खजाना ही उनके हाथ लग गया है तो अब कर देने की बात कहाँ रह गयी।" प्रातःकाल हो गया। सारे गाँव में खलबली मच गयी। महल मे रामरस ने प्राण छोड़ दिये।

मराठो के सेनापति ने किले मे ही मुकाम किया। सारे क़िले में पहरे पर अपने लोगों को नियुक्त किया और बाद में डौडी पिटवाई—"निजगल को मराठो ने अपने अधिकार मे ले लिया है। जनता को डरने की आवश्यकता नही। रामरस के स्थान पर किसी और व्यक्ति को नियुक्त किया जाएगा। किसी की संपत्ति छीनी नही जाएगी। चार दिन तक गाँव छोड़कर कोई भी बाहर नही जाए।" वह पहले ही जानता था कि रामरस की मृत्यु हो जाएगी। उसे तुरन्त खबर देने के लिए उसने कह रखा था। खबर पहुँचते ही वह कस्तूरी नायक के साथ महल मे पहुँचा और रानियो को यह कहकर सांत्वना दी कि रामरस के संस्कार के लिए उचित प्रबन्ध किया जाएगा। तब लकुमा ने कहा, "गांव को जीतने के बाद आप ही उसके मालिक है, सबको ठीक-ठाक रखना आपकी जिम्मेदारी है।" आगे उसने नायक के लडके को गद्दी पर बिठाने के लिए विनती की।

जब सेनापति कस्तूरी नायक के साथ राजमहल में आया और उससे यह बातचीत हुई तब गिरिजा उपस्थित थी। उसे केवल यही मालूम था कि राजा की मृत्यु हो गयी है। और बातों को जानने की स्थिति में वह नहीं थी। उसका बेटा सामन्त बने या और कोई, और आगे क्या होना चाहिए यह बात उसने सोची ही नही थी। उसका विचार था कि ऐसी बातो का वह समय न था, जब राजा मृत पड़ा है तब बच्चे को गद्दी पर बिठाने की बात ही क्यो करें! इसके अतिरिक्त वह भीतर-ही-भीतर इस बात पर जल रही थी कि कस्तूरी

नायक ने मराठो के साथ मिलकर जिस थाली में खाया उसी में छेद करने का काम किया। पास खड़े होने पर भी उसने उसकी ओर देखा तक नहीं। कस्तूरी भी सिर झुकाकर खड़ा था। सेनापति ने यह सब देखा। उसे लकुमा की स्थिरता, तथा गिरिजा की पतिपरायणता दोनों एक से बढ़कर एक प्रशंसनीय लगी। गिरिजा बड़ी सुन्दर थी। उसे अपनी ओर आकर्षित करने की इच्छा उसके मन मे उठी।

राजा के दाह संस्कार के लिए सब प्रबन्ध किये गये। लकुमा ने कहा, "मैं सती हो जाऊँगी।" गिरिजा बोली, "आप घर में सबसे बड़ी हैं, बच्चे को बड़ा करके गद्दी पर बिठाना है। यह काम आपसे ही हो सकता है। क्या यह मुझसे सम्भव है? आप सती न होइए। मैं सती होती हूँ।" लकुमा ने कहा, "मैं बड़ी हूँ, सती होने का अधिकार मुझे है।" गिरिजा बोली, "आप बुजुर्ग हैं, मैं सती हूँगी।" इस प्रकार दोनो मे विवाद चला। अन्त में गिरिजा बोली, "जैसी आपकी मर्जी। आप जीवित रहे तो मैं भी रहूँगी यदि आप सती हो रही हैं तो मैं भी साथ हो जाऊँगी, यह बात तय है।" तब गाँव के प्रमुखों ने प्रार्थना की कि किसी को भी सती नहीं होना चाहिए। बच्चे को पालने के लिए दोनो की जरूरत है। मराठो के सेनापति ने भी यही कहा। सती होने की बात टल गयी और उस दिन राजा का दाह-संस्कार हो गया।

तीन दिन बीत गये। इस बीच कस्तूरी और सेनापति में आगे के प्रबन्ध के बारे मे मन-मुटाव शुरू हो गया। सेनापति ने बताया कि वह नायक के लड़के को गद्दी पर बिठायेगा, लकुमा तथा कस्तूरी को उसकी रक्षा के लिए छोड़कर गिरिजा को वह अपने साथ ले जाएगा। तब कस्तूरी ने कहा, "गद्दी पर मुझे बिठाइए। मेरे बाद मेरा भाजा गद्दी पर बैठ सकता है। गिरिजा खुशी से जाना चाहे तो आप उसे ले जा सकते हैं।" गद्दी पर कौन बैठे इसके बारे मे दोनो में मतभेद रहा। कस्तूरी ने सेनापति को उसके दिये वचनो के बारे मे याद दिलाया। तब सेनापति बोला, "नायक का एक बेटा भी है यह आपने हमें नहीं बताया था।"

यह कैसे कहा जा सकता है कि सेनापति यह वास्तव मे कह रहा था या सिर्फ गिरिजा को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए। दोनो मे वाद-विवाद बढ़ गया। अन्त में इस बात की चर्चा करने के लिए सेनापति ने दोनो रानियो को बुलवाया और यह भी कहला भेजा कि वे दोनो अकेले-अकेले उससे मिलें। वह उन्हें किसी प्रकार तंग नही करेगा। बात-चीत के दौरान कस्तूरी नायक भी उपस्थित रहेगा। बड़ी रानी आयी। उससे नायक किसे बनाना चाहिए, इस बात पर चर्चा करने के बाद उसने छोटी रानी को बुलवाया। उसने उससे भी वही बात पूछी। गिरिजा बोली, "बड़ी रानी से पूछने के बाद मुझसे पूछने की

आवश्यकता नही। उनके कथनानुसार करिए।" कुछ देर इधर-उधर की बात करने के बाद उसने गिरिजा को अपने साथ चलने को कहा। गिरिजा तब तक सिर झुकाकर बातें कर रही थी। यह बात सुनकर उसने उसे और कस्तूरी को ध्यान से देखकर पूछा, "क्या इसके लिए स्वीकृति है?" सेनापति बोला, "उसने मान लिया है।"

कस्तूरी का विचार था कि यदि वह सेनापति से विवाह करने पर राजी हो जाए तो सेनापति उसे नायक बनाने मे सहायता देगा। इसके अतिरिक्त उसके मन मे यह बात भी थी कि यदि वह सेनापति के साथ चली जाये तो उसका बेटा भी यहाँ नही रहेगा और तब भले ही लडका नाम-मात्र के लिए नायक बन जाए। वह स्वय वास्तव मे नायक बनकर रह सकता है। गिरिजा ने एक मिनट तक सोचा कि उसका भाई इस बात के लिए तैयार हो गया। बाद में वह बोली, "आपने मेरे ऊपर जो उपकार किया है उसके योग्य मैं नहीं हूँ। पर अब जिस स्थिति मे मैं हूँ उसमें आपकी बात का इनकार भी नही कर सकती।" सेनापति और कस्तूरी को यह देखकर आश्चर्य और साथ ही संतोष हुआ कि उसने इतनी जल्दी यह बात स्वीकार कर ली। सेनापति ने कहा, "मुझे शीघ्र लौटना है; सम्भव हो तो यह सब बातें दो-तीन दिन मे हो जानी चाहिएँ।" "जो आज्ञा" कहकर गिरिजा राजमहल लौट आयी। दूसरे दिन उसने सेनापति को सूचना भेजी कि वह शादी करेगी, फ़िलहाल उसका भाई कस्तूरी नायक बने। विवाह के दिन ही कस्तूरी के गद्दी पर बैठने का उत्सव भी हो। यही बात उसने बडी रानी को भी कहलाई।

लकुमा की समझ में नही आया कि यह सब कैसे हो गया। वह गिरिजा से मिलने आयी। गिरिजा ने उससे मिलने से इनकार कर दिया। सारे गाँव मे खलबली-सी मच गयी पर कोई क्या कर सकता था। सेनापति के विरोध में कोई बात कही नही जा सकती थी। दाह-संस्कार के पाँच दिन बाद इस उत्सव का दिन निश्चित हुआ। उससे एक दिन पूर्व गिरिजा ने कहला भेजा कि कल किले की दीवार पर उसका जलूस निकलेगा ताकि गाँव के सब लोगों को मालूम पड़े और उसके बाद उसका विवाह हो और भाई की गद्दी पर बिठाने की रसम एक साथ पूरी होगी। कौन उसकी इच्छा के विरोध मे बोलता?

दूसरे दिन प्रातःकाल ही गिरिजा उठी, स्नान और पूजा-पाठ से निवृत्त होकर वह बच्चे को गोद मे लेकर लकुमा के पास जाकर रोते हुए बोली, 'यह मेरे भाग्य में लिखा था, आज से यह बच्चा मेरा नही, आपका है। इसके पालन-पोषण का भार आप पर है। मुझे आशीर्वाद दीजिए।" लकुमा बोली, "तुम्हारी सारी अकल कहाँ चली गयी? तुम्हे यह समझ नही आया कि उसकी बात मानने से इनकार कर देना चाहिए, तुम अब भी चाहो, इनकार कर दो।" "अब जो

कह दिया सो कह दिया। अब उस बात को न उठाइए। अब मेरा रास्ता ही दूसरा है।" गिरिजा यह कहकर महल से निकल पड़ी। गाँव की प्रदक्षिणा के लिए सारा प्रबन्ध किया गया था। गिरिजा ने सुमंगली की तरह अपने को सजा रखा था। यह देखकर जनता को बुरा लगा। गिरिजा कस्तूरी से बोली, "तुम उस तरफ से आओ, मैं इस तरफ़ से आती हूँ," इस प्रकार जलूस आगे निकला।

निजगल का किला बड़ा सुन्दर था। डरावनी चट्टानों पर शत्रु के दिल में भय उत्पन्न करने वाली दीवारें थीं। दरवाज़ा एक ही ओर था। दरवाज़े के सामने किले की दीवार से थोड़ी दूर पर एक रास्ता था उससे गाँव जाने के लिए सुन्दर सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। नायक जब घूमने आता तो यहाँ कभी-कभी आकर ठहरता। यहाँ से दस मील तक के गाँव, तालाब, पेड़ों के झुण्ड स्पष्ट दिखाई देते थे। बाहर की चट्टान किले की दीवार के नीचे आगे को फैली थी। उस पर क़िले के दीवार की ऊँचाई सात आदमियों की ऊँचाई के बराबर थी। उस चट्टान के नीचे खाई थी।

कस्तूरी एक तरफ़ से आया तब गिरिजा ने सेविका से कहा, "आज मुझे अपने भाई की आरती करनी है। आरती की थाली सजा ला।" बाद में वह किले की दीवार पर चढ़ गयी। सारे गाँव की जनता, "यह कैसी विचित्र बात है? इसका शृंगार देखो, इस आरती का क्या अर्थ है?" कहते हुए हैरान होकर किले की दीवार पर दोनों तरफ से आते हुए जलूस को देख रही थी। थोड़ी देर में दोनों जलूस एक निश्चित स्थान पर पहुँचे। गिरिजा आधा मिनट पहले पहुँचकर चेटी से आरती की थाली लेकर मौन खड़ी हो गयी। इस तरह दस-बीस लोग उस तरफ दस-बीस लोग इस तरफ चुपचाप खड़े देख रहे थे। गिरिजा ने सदा की भाँति गम्भीर होकर भाई की आरती उतारकर चेटी को थाली पकड़ाई। हँसते हुए भाई को सम्बोधित करके बोली, "कस्तूरी, तुमसे मुझे यह पद मिला मुझे तुम्हें भूलना नहीं चाहिए, तुम्हें भी गद्दी की बड़ी आशा है", और दूसरे क्षण कर्कश ध्वनि में "मेरे और तुम्हारे कारण रामरस का घर उजड़ा, हमें जन्म देने वालों को अपयश प्राप्त हुआ। कस्तूरी, हमें जीवित रहना नहीं चाहिए" चिल्लाते हुए उसे ज़ोर से कसकर दीवार से नीचे कूद पड़ी।

जनता के मुँह से हाय निकलने से पहले ही भाई-बहिन चट्टान पर गिर चुके थे। उस ऊँचाई से चट्टान पर गिरने वाले बच नहीं सकते। दो क्षणों में उन दोनों के शरीर प्राणों को छोड़कर चट्टान से नीचे लुढ़क गये।

रामरस के बेटे को निजगल का नायक क़रार दिया गया। सकुमा ने वचन दिया कि वह मराठों के अधीन रहेगा और वह गाँव के मुखियों की सहायता से राज्य चलाने लगी। गाँव के लिए एक विपत्ति के समान आये कस्तूरी का काम

तमाम करने वाली छोटी रानी को जनता बहुत प्रेम से स्मरण करती रही और प्रतिवर्ष उसकी याद में गाँव की देवी के रूप में उत्सव मनाती रही। अब वह उत्सव नहीं होता। गाँव सामन्तों को भूल गया है। पर निजगल जाने वालों को वहाँ की जनता आज भी रानी की यह कहानी सुनाती है और उस वीर रमणी के आत्म-यज्ञ से पवित्र हुई वह चट्टान दिखाती है।

(प्रकाशन वर्ष : 1930)

मेलूर की लक्ष्मम्मा

"हमारे लडके का आज आरती-अक्षत है"—कोई मेरे पास ही बोला। मैं चौंक गया। मार्केट जाते हुए मैं किसी सोच में था। कोटे (किले) वेंकटरमण स्वामी के मन्दिर के परली तरफ़ रास्ते के किनारे देखा कि कौन है। वहाँ बस एक स्त्री ही थी; पास कोई और न था। उसने ही यह बात कही होगी। मुझे तुरन्त ऐसा लगा कि कोई पगली है, पर उसकी बात ठीक ही थी। यह सोचकर कि वह और कुछ कहेगी, मैंने अपनी चाल धीमी कर ली। उसने फिर कहा, "बहिन, आप सब लोग आना, ज़रूर, ज़रूर, भूलना नहीं। सुहागिनें आकर आशीर्वाद दें जिससे उसका भला हो।"

बात पहले की तरह ठीक ही थी। तब तक चार-पाँच लोग उसके पास से गुज़र चुके थे। पर उसे इस बात का पता न था। इससे मुझे लगा वह अंधी होगी। मैं ज़रा पास आकर खड़ा हो गया। वह कह रही थी, "बहिन नरसम्मा क्यों हँसती हो? क्या यह सोचकर कि अंधे लड़के का क्या भला हो सकता है? बहिन, अंधा होने से क्या हुआ, है तो बच्चा ही! जब मैं इसे गोद में लेती हूँ तो पड़ोसिन साकम्मा का घरवाला कहता है—यशोदा कृष्ण को गोद मे लिए बैठी है। जाने दो। अंधा न कहो तो अंधापन चला जाएगा क्या? हमारा भाग्य। नेक सुहागिनों ने यदि आशीर्वाद दिया होता तो मेरी भी आँखें रहती। यदि मैंने भगवान् की अच्छी तरह पूजा की होती तो हमारे बच्चे की आँखें होतीं। आप लोग आज आकर बच्चे को शुभाशीष

दो। आँखें भले ही न सही, पर जीवन तो सुखी हो।"

मैंने जैसा सोचा था वह अंधी भी थी और पगली भी। इस समय कोई बात याद करके अपने आप बातें करती जा रही थी। माँग में सिन्दूर था; देखने में सुन्दर थी। हाथ में कपड़ों की एक पोटली थी। देखने में वह भिखारिन पगली-सी न लगती थी। राह-भूली-सी लगती थी। मैंने वहीं खड़े होकर उसकी और भी बातें सुनीं। दुबारा जब वह बोली तो उसका मन दूसरे विषय पर चला गया था।

"हाँ, मूर्ख लड़की को इतनी-सी बात समझ में न आयी। कुछ दिन बहाना किया होता तो बात बन जाती। कितना समझाया था कि कह देना पता नहीं क्यों दृष्टि क्षीण होती जा रही है और फिर यह कि एकदम दिखाई नहीं देता। बाद में भले ही लोग अंधी कह देते। विवाह तक किसी तरह स्वांग कर लेना था; बाद में फेरे करने वाला कहीं छोड़ देता ? ठीक रखता तो खुशी की बात थी, नहीं तो कम-से-कम एक कोने में बिठाकर दो कौर तो दे देता। इसी को भगवान की इच्छा समझना चाहिए। पर बेटी, एक बात और भी है कि पति को पहचानने के लिए एक निशानी रख लेनी चाहिए—मैंने तुम्हारे पिता की भी ऐसी ही पहचान कर रखी थी। उनकी बायीं बाँह पर चने के बराबर मस्सा है न ! शुरू में ही उसे छूकर निशानी बना ली थी। बुरे-भले समय में कोई बदमाश हमें खराब करने आये तो हमारा रक्षक कौन है। बेटा, भगवान् हमें सुमति दें और हमारी बुद्धि हमारे वश में रहे। उस दिन वह दुष्ट मेरे पास आया। मुँह से तो बोला नहीं, बस उसने छुआ भर। उसने समझा था कि मैं उसे पति समझ लूँगी। मैंने कहा, यदि तुम मेरे पति हो तो बात करो, नहीं तो हटो यहाँ से। उसने गला बैठा होने का पाखंड रचा तब मैं समझ गयी और मैंने उससे अपनी बाँह दिखाने को कहा। उसने बाँह दिखाई। देखा तो निशानी न थी। इस पर मैं बोली—भगवान की सौगंध तुम बुरे विचार से आये हो, हटो यहाँ से। 'रहने भी दो' कहते हुए उसने मेरा हाथ पकड़ लिया, तो मैंने उसे एक तमाचा मारा…"

बात तो सब ठीक थी, पर उसका आरती-अक्षत से कोई मेल न था। अंधी लड़की के लिए एक सीख थी; अपने जीवन की एक घटना की याद। तभी वह अचानक—"हाय मार दिया न ! हाय रे ! मेरा बेटा गया ! हाय !" चिल्लाने लगी और अपने चरित्र को कलंकित करने की चेष्टा करने वाली बात को वहीं छोड़, अपने बच्चे की मृत्यु की याद करके विलाप करने लगी। मुझे उस पर बड़ी दया आयी। उसके लिए कुछ करने के विचार से मैंने पास जाकर, धीरे से पूछा, "आप कहाँ की हैं बहिन ?"

"मेलूर की।"

"किसके घर की हैं, बहिन ?"

उसने जवाब न दिया।

"बहिन, क्या आपको मैं मेलूर भिजवा दूं ?"

"नहीं भैया, मैं काशी जा रही हूँ। मेरे घरवाले काशी गये हुए हैं; मैं भी वहीं जाने को निकली हूँ।"

"आप तो बंगलोर मार्केट के पास खड़ी हैं। आपके साथ कोई नहीं है क्या ?"

"कोई साथ नहीं भैया ! मेरे पति काशी चले गये हैं। मैंने भी साथ जाना चाहा पर मेरे भाई ने मना कर दिया। उनसे पूछूंगी तो यही होगा—ऐसा सोचकर मैं निकल पड़ी हूँ।"

"आप तो यहाँ कई तरह की बातें कर रही हैं। यह सब क्या है ?"

"मुझे कभी-कभी ऐसा ही हो जाता है, भैया ! मैंने भी अच्छे दिन देखे हैं। बच्चे भी पैदा किये हैं। हाय रे ! मेरी बेटी तू, चली गयी। मेरी बच्ची, तू भी कुएँ में जा गिरी !"

पहली तीन बातें तो समझ में आने वाली थी पर आखिरी तीनों में असंगति थी। मैंने क्षणभर सोचकर कहा, "बहिन, हमारे घर चलो। बाद में काशी चली जाना। आप चाहेंगी तो किसी को साथ भेजने की कोशिश करूँगा, आपके भाई साहब को कहला भेजूंगा।"

वह अपनी जगह से हिली नहीं। मुझे यह न सूझा कि क्या करूँ। इसलिए मैंने मेलूर से आने-जाने वाली बसों पर जाकर पूछताछ की। "एक अंधी स्त्री है; ऊटपटांग बातें करती है। साथ में केवल एक कपड़ों की पोटली है।"—यह बताने पर कुछ लोगों ने उसे पहचान लिया। मेरे यह पूछने पर कि ऐसी स्त्री को यहाँ लाना क्या उचित था ? उन लोगों ने कहा, "हमें क्या पता, आयी और बस में बैठ गयी। किराया माँगने पर बोली कि मेरे भाई से लो। उतरने को कहा तो उतरी नहीं। फिर हमने उसे यहाँ उतार दिया।" मैंने कहा, "उसके टिकट के पैसे मैं देता हूँ; पर एक पत्र मेलूर ले जाना होगा।"

सारा जरूरी इंतजाम करके एक ताँगा लाकर मैं उस स्त्री से बोला, "बहिन, मेरे घर चलो। वहीं भोजन बना लेना, और फिर काशी चली जाना।" वह बोली, "आप कौन हो भैया ? बड़े भले, से दिखते हो। मेरे आड़े वक्त में भगवान् की तरह आये हो।" और फिर कुछ देर बाद ताँगे में बैठकर मेरे घर चली तो आयी पर "अंदर पाँव न रखूंगी" कहकर बाहर के चबूतरे पर बैठ गयी। मैं अपनी स्त्री से उसका ध्यान रखने के लिए कहकर अपने काम पर चला गया।

दोपहर को दफ्तर में बैठा था कि किसी के आने की सूचना मिली। मैंने

बाहर आकर पूछा, "आप मेलूर से आये है ?" पर मेरे पूछने से पहले ही उन्होंने मेरा पत्र मिलने की बात कह दी। उन्होने यह भी बताया कि वह स्त्री उनकी बहिन है और सुबह उनके उठने से पहले ही वह घर से चलकर बस में बैठ यहाँ आ पहुँची। फिर बोले, "आप जैसे भले आदमी की नजर पड गयी, यही बड़ी बात हुई, नही तो पता नही उसे और मुझे कितनी दिक्कत उठानी पड़ती।"

मैंने कहा, "आपको मुझसे कुछ लाभ पहुँचा यह मेरे लिए संतोष की बात है परन्तु मैंने कोई बड़ा काम नहीं किया। आपको मेरा पत्र कितने बजे मिला ?" वे बोले, "जब आपका पत्र मिला उस समय दोपहर के खाने का समय हो गया था। मैं अपनी बहिन की खोज मे मारा-मारा फिर रहा था। कहीं किसी कुएँ-बावडी में तो नहीं जा गिरी—यह सोच ही रहा था कि किसी ने आकर उसके मोटर में जाने की बात कही तो मैंने कुछ आदमियों को उस तरफ भेजा। फिर यहाँ से जाने वाली बसो में से एक आदमी ने मुझे आपका पत्र दिया। वह पत्र पाते ही मैं भागा आया। मेरी बहिन ठीक-ठाक तो है न ?" मैंने कहा, "वैसे तो वे बिल्कुल अच्छी तरह है। पर उनका मस्तिष्क ठीक नही लगता।" वे बोले, "इसके अलावा और तो कुछ नहीं हुआ, यही खुशी की बात है। वह पागल है और अंधी भी। मोटर के सफर और शहर की इन सडको पर घूमने में उसे कुछ भी हो सकता था। इन मोटरों, ताँगों के बीच तो अच्छे-अच्छे आँखों वालों से भी नही चला जाता।" मैंने कहा, "जरा ठहरिए" अभी घर चलते हैं।" और फिर अफसर से कह मैं उन्हें साथ लेकर घर की ओर चल पडा। रास्ते में उन्होंने अपनी बहिन की कहानी सुनाई।

"मेलूर मे सुब्बरामय्या नाम के ज्योतिषी थे। उनके लड़के का नाम नरसिहय्या और लडकी का नाम लक्ष्मम्मा था। लक्ष्मम्मा जन्म से ही अंधी थी, पर वह रूपसी और समझदार थी। अंधी होने के कारण बाप ने उसे बड़े प्यार से पाला था। वे कुछ क्रोधी स्वभाव के थे। घर का कोई भी व्यक्ति ऐसा न था जो उनके क्रोध का भाजन न होता हो। पर यह लड़की जो भी करती, उसे वे सह लेते थे। एक तरह से कहना चाहिए कि इससे पिता का लाभ ही हुआ। लक्षमम्मा कितनी तेज थी यह उसके बचपन की एक घटना से स्पष्ट हो जाएगा। एक बार सुब्बरामय्या ने अपनी माता का श्राद्ध किया और उसकी बड़ी प्रशंसा करते हुए कहा, 'मेरी माँ बड़ी अच्छी थीं पर मेरे पिता व्यर्थ उनको डाँटते थे।' इस पर लक्षमम्मा ने कहा, 'पिताजी, यह तो ऐसे ही हुआ जैसे हम तो अम्मा को अच्छा बताते हैं, पर आप हमेशा डाँटते रहते हैं।' सुनकर पिताजी हैरान हुए और बोले, 'हमारी लक्ष्मम्मा मैत्रेयी का अवतार है। मुझे नीति सिखा रही है।' इसी तरह लक्षमम्मा की बुद्धिमानी..

की बातें बहुत सारी हैं। जैसे उसकी आँखें न थी पर अक्ल बहुत थी, वैसे ही उसका स्वभाव और चाल-चलन बहुत अच्छा था। लड़की के आठ साल की होने से ही किसी तरह उसका विवाह कर देने का पिताजी ने बहुत प्रयत्न किया, सभी जान-पहचान वाले यही पूछते कि इस अंधी लडकी से कौन ब्याह करेगा, उनमें कुछ लोगो का यह उद्देश्य था कि कुछ ज्यादा धन मिले तो ब्याह लें। वैसे पिताजी पैसे वाले तो नही थे, पर पैतृक भूमि और निजी घर था। उन्होंने स्वयं भी ज्योतिष से कुछ कमाया था। बाकी लोगों के पास इतना भी न था। इसलिए उन लोगो की नजर इनके धन पर थी। पिताजी इसी उधेड़बुन में थे कि घर-बार बेचे बिना लडकी का ब्याह हो जाए कि तभी उनका स्वर्गवास हो गया। अंत समय उन्होने कहा था, 'बेटा, दुर्भाग्य से तुम्हारी बहिन अंधी पैदा हुई। इसे तुम्हारे हाथों सौंपकर जा रहा हूँ। किसी तरह इसे एक अच्छे ब्राह्मण के हाथों सौंपना। तुम अच्छे लड़के हो। भगवान् तुम्हारा भला करेगा।' नरसिंहय्या अपनी बहन से आठ साल बड़े थे। बड़ो ने, जिस साल पिता की मृत्यु हुई थी, उसी साल उसका ब्याह कर देने पर जोर दिया। माँ की भी यही इच्छा थी। पिता की तरह देर करना तो असम्भव था। लड़की दिन दूनी, रात चौगुनी बढती जा रही थी। इन सब कारणो से उन्होंने अपने गाँव में ही अपने एक रिश्तेदार से उसका विवाह करने का निश्चय किया। अभी उनकी अपनी शादी न हुई थी। उसे उन्होने अगले साल के लिए स्थगित कर दिया। अपनी जमीन का हिस्सा बेचकर दामाद के लिए कुछ अधिक ही खर्च करके उन्होंने बहिन का रिश्ता कर दिया। लक्ष्मम्मा ने यही कहा, 'मेरे भाई साहब बड़े अच्छे हैं। बहिन को पिता का अभाव महसूस नही होने देते।'

कुछ साल और बीते। लड़की बडी हुई। समधी लड़की को ले जाने में टालमटोल करने लगे। बात साफ न कहने पर भी कुछ और धन ऐंठने की उनकी इच्छा थी। तब तक इनका भी ब्याह हो गया और खर्च बढ़ गये। समधी को धन देने के लिए जरूरी था कि कुछ और भूमि बेची जाय। लक्ष्मम्मा ने भाई से कहा, 'मुझे ससुराल भेजने के लिए आप क्यों अपना दिवाला निकाले दे रहे हैं! जो धन के बिना बहू को नही चाहते, उन्हें चाहे जितना भी धन क्यों न दिया जाय, वे क्या बहू को पसन्द करेंगे? आप चुप रहिए। मुझे बहिन नही भाई समझ लीजिए। जिस घर में मैं पैदा हुई, उसी में रहूँगी।' नरसिंहय्या ने प्रसन्न होकर यही कहा, 'तुम बहिन हो, सम्पत्ति में आधा हिस्सा तुम्हारा भी होता है।' और फिर उन्होंने जमीन बेची और समधी जितना चाहते थे उतना तो नही पर अपनी शक्ति भर धन देकर बहिन को ससुराल विदा किया।

लक्ष्मम्मा का पति आयु में बहुत बडा न था। उसने विवाह अपने माता-

पिता की इच्छा के कारण किया था, और उनकी इच्छा का कारण था—धन। पति सोचता था कि अन्धी घर क्या चला सकेगी। इसके अलावा उसे एक पत्नी व्रत होने का हठ भी नहीं था अत. उसने पत्नी को अनचाही की तरह उपेक्षा से रखा। एक ही गाँव में रिश्ता हुआ था इसलिए लक्ष्मम्मा ने मायके से ससुराल, से मायके, इसी तरह वहाँ के जैसे-तैसे ज़िन्दगी को ढकेला। तीन साल बाद एक लड़का हुआ। वह भी अन्धा था। इस पर ससुराल वालों ने उसे जो-जो सुनाया, भगवान् न करे किसी को सुनने को मिले। इसके तीन साल बाद उसका पाँव फिर भारी हुआ। फिर कही अन्धा बच्चा पैदा न हो—यह डर उसे बहुत सता रहा था। घर में भी सब लोगों की चिन्ता का यही विषय था। दिन पूरे हुए और एक लडकी पैदा हुई; वह भी अन्धी। सदा एक ही ग़लती करने वाले लडके को गाँव की पाठशाला के अध्यापक रूलर से अँगुलियो के गट्टो पर मारते हैं। लक्ष्मम्मा के अन्धे लड़के के बाद अन्धी लड़की हुई तो घर वालों ने पुरानी बातें दस गुना ज़ोर देकर सुनाईं। लक्ष्मम्मा बेचारी क्या कर सकती थी; बच्चे तो पैदा हो चुके थे। अब चिन्ता थी कि इन बच्चो का क्या होगा। पर अब तक उसे ससुराल में बातचीत करने की छूट मिल चुकी थी। कोई बुरा-भला कहता तो चट कहती, 'आँखें नहीं हैं फिर मैंने क्या कम किया है? लड़का पैदा किया; लड़की पैदा की। मुझसे जो कुछ बन पडता है, करती हूँ। आँखों वाली बहू सास-ससुर को इससे क्या ज़्यादा करके दे देती। मुझसे पति को किसी तरह का कष्ट नही। जिसके मुँह मे जो आये, वह मुझसे वही कहे—यह नही हो सकता।' किसी तरह ज्यो-त्यों करके उनका जीवन इसी प्रकार चलता रहा।

"एक दिन श्राद्ध था। दादा नहा चुके थे कि तभी अन्धा लड़का इधर-उधर दौड़ता हुआ उनसे छू गया। सारा काम बिगड़ गया। बूढे को दुबारा नहाना पड़ा। यह देखकर लक्ष्मम्मा के पति ने लडके को खूब पीटा। चोट ज़्यादा लगी, अन्धा बच्चा हाय-हाय कह चिल्ला उठा। माँ छुड़ाने गयी। बाप ने उसे उसके हाथ नही आने दिया और सारे आँगन मे घसीट-घसीटकर मारता रहा। खूब मार पडी और वह चिल्ला-चिल्लाकर रोता रहा। इसके बाद उसे ज़ोरो का बुखार चढ़ा और दो-तीन दिन में ही बेचारा चल बसा। लक्ष्मम्मा की स्थिति और भी बिगड गयी। तभी सास ने पति-पत्नी को अलग कर दिया। इधर लडकी बडी होने लगी। उसकी शादी करनी थी। यदि लड़की को एकदम अन्धा बताया जाता तो लोग समझते कि यह ख़ानदान पुश्त-दर-पुश्त अन्धा ही रहेगा; फिर कौन बेचारी से शादी करता। इसलिए लक्ष्मम्मा ने लड़की को समझाया कि वह कुछ-कुछ दिखाई देने का बहाना करे। इस चेष्टा में बेचारी दो बार दीवार और खम्भे से जा टकराई। एक-दो बार उसकी हँसी भी उड़ी।

यह सब देखकर लक्ष्मम्मा बड़ी दुखी हुई। इसी प्रकार दिन कटते रहे। विवाह के बाद उसे कैसे रहना चाहिए इस विषय में लक्ष्मम्मा लड़की को बराबर सीख देती रहती कि अन्धी स्त्री को सबके समान गर्व नही करना चाहिए; उसे दीन भाव से रहना चाहिए। बड़ों की बात माननी चाहिए। स्त्री के लिए पति ईश्वर के समान है—अन्धी के लिए तो वही साक्षात् परमेश्वर है; अपने स्त्रीत्व की रक्षा के लिए पति का कोई चिह्न पहचान रखना चाहिए, आदि, आदि। बच्ची ने बस एक-दो बार यही कहा कि यदि मैं मर जाऊँ तो अच्छा है।

"एक दिन वह लड़की अपनी सहेलियों के साथ कुएँ पर गयी और वहीं डूब-कर उसने प्राण दे दिये। कहा नही जा सकता कि उसने जानबूझ कर प्राण दिये या अनजाने मे। लक्ष्मम्मा के दु.ख की सीमा न रही। इस बीच उसके पति को ससार से विरक्ति उत्पन्न हो गयी। उन्होंने काशी जाने का अपना निश्चय पत्नी को बताया। बेचारी ने पति से बड़ी प्रार्थना की कि वे उसे छोड़कर न जाएँ, पर उन्होने एक न सुनी और चले गये। लक्ष्मम्मा भाई के घर आ गयी। उस समय वह गर्भवती थी। चार महीने बाद असमय में प्रसव हुआ। पर बच्चा बचा नही। उसके लिए जीवन का दु ख असहनीय हो उठा और उसका मानसिक सन्तुलन नष्ट हो गया। अब वह कभी-कभी ऐसी बाते करती है मानो अब भी उसके बच्चे जीवित हों। दो-तीन दिन के बाद बुद्धि फिर ठीक हो जाती है। उसके पति को काशी गये तीन दिन हो गये हैं। उसने स्वयं काशी जाने का हठ किया तो माँ और भाई ने मना किया, पर उसने माना नही और अर्धज्ञान की अवस्था में अपने आप बस मे बैठकर बंगलोर पहुँच गयी। बाद में जो कुछ हुआ मैं बतला ही चुका हूँ।"

नरसिंहय्या की कहानी सुनते-सुनते मैं उनके साथ घर पहुँचा। लक्ष्मम्मा तब स्नान करके कुछ फलाहर कर चुकी थी। हम पहुँचे तो उसने आवाज से भाई को पहचान लिया और कहा, "भैया, मुझे काशी ले चलो।" पास किसी के खड़े रहने की बात बिना देखे बस अन्धे ही जान सकते हैं। अपनी उसी सूक्ष्म दृष्टि से पहचान कर उसने पूछा, "और कौन साथ है?" मैं चट बोला, "मैं हूँ बहिन, इस घर का आदमी।" शायद उसने समझ रखा था कि उसका पति आया है। मेरी बात सुनकर उसका मुँह उतर गया। नरसिंहय्या बोले, "गाँव चलें चलें, लक्ष्मम्मा?" वह बोली, *"हाँ, बच्ची का आरती-अक्षत करना था। छोड़-कर आ गयी हूँ।"* फिर वही भ्रम, हवा में बन्धे कपड़े के समान उसका मन इधर-उधर डोल रहा था। इसके बाद नरसिंहय्या एक ताँगे मे बिठाकर उसे गाँव ले गये।

इस घटना को घटित हुए तीन माह बीत चुके हैं। कभी-कभी मेरा जी चाहता है कि लक्ष्मम्मा का कुछ हाल पता लगाऊँ, पर सोचता हूँ उससे क्या

होगा; और यह सोचकर चुप रह जाता हूँ। कल बात चलने पर पत्नी बोली, "पता नहीं कितनी ऐसी कहानियाँ होती हैं। लेकर सोचने बैठो तो इनका न आदि है, न अन्त।" मैंने कहा, "यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसका जीवन बडा दुःखी है।" वे बोली, "यह तो सब विधि के लेख है।" मैंने कहा, "कैसे है ये विधि के लेख ! बिल्कुल हमारे रामू की लिखावट जैसे।" इस पर वे पूछने लगी, "रामू की लिखावट जैसे या शामू की ?" शामू हमारा बड़ा लड़का है। उसने अभी-अभी अक्षर लिखना सीखा है। रामू छोटा है, उसे अभी लिखना नही आता। पट्टी लेकर चुपचाप लकीरें खीचा करता है; यही उसका काम है। पट्टी भर जाती है तो सबको दिखाता फिरता है—यह मैंने लिखा है। इसलिए मेरी पत्नी ने रामू या शामू का प्रश्न किया था। मै बोला, "शामू नहीं रामू ! लकीर खीचना ही उसका लेख है। कोई अक्षर बन जाय तो उसका दोष नही। विधना की लिखावट भी ऐसी ही ऊटपटाँग है—हजारों में एक भी ठीक नही। उसमे कोई ठीक हो भी तो उसका दोष नही।"

(प्रकाशन वर्ष : 1934)

कर वँधी साडी और कसा ब्लाऊज पहने, पेट पर एक कसकर पट्टी लपेटे, वह लडकी जब बाँस पर चढ़ी तो पेड़ पर चढ़ती गिलहरी-सी महसूस हुई। वह सर्र से बाँस पर चढ गयी। बाँस की नोक पर उसने पेट और पीठ के बल कुछ कलाबाजियाँ दिखाई। बाँस पर हथेली टिकाकर चक्कर लगाने का एक खेल दिखाया, पहले तो हाथ-पाँव अलग-अलग दीख रहे थे। घूमने में तेज़ी आते-आते ऐसा लगा मानो किसी गाड़ी का पहिया भाग रहा हो। शुरू-शुरू में लोग 'कैसे बढ़िया चक्कर लगा रही है। अरे! हाथ ही छोड दिया। देखो कमाल ही कर दिया।' ऐसी ही बातें कर रहे थे। पर खेल के आगे बढते-बढते उनकी जबान ही बन्द हो गयी। डर ही लगने लगा कि अगले क्षण क्या होगा। सब साँस रोककर खेल देख रहे थे। मन ही मन सब सोचने लगे यह सही-सलामत उतर आये यही काफी है। उसका छोटा भाई एक तरफ़ खड़ा ढोलकी बजा रहा था। बाप दूसरी ओर बैठा एक बडा-सा ढोल बजा रहा था। माँ बाप की बगल में बैठी बेटी की ओर देख रही थी। लड़की के काफ़ी देर कलाबाज़ी दिखाने के बाद, गाँव के गौडा ने दल के मुखिया से खेल बन्द करने को और लडकी को नीचे उतारने को कहा। वह 'अभी, अब खेल खत्म हो गया मालिक' कह ही रहा था कि लड़की बाँस के सिरे पर एक टाँग पर खड़ी हो गयी और एक चक्कर लगाकर हाथ जोड़कर सबको नमस्कार करके रस्सी के सहारे फिसल कर नीचे उतर आयी और अपनी माँ के पास आकर खड़ी हो गयी।

उस समय मैं बहुत छोटा था। तब भी उस वेश-भूषा में वह मुझे, अच्छी लगी। उसे बार-बार देखने का मन हुआ। जब मेरा ही यह हाल था तब बड़ों का क्या कहूँ? हमारे अध्यापक और गौडा के घर सयानी लड़कियाँ थीं। वे हमारे स्कूल में पढ़ने आती थीं। वे लोग तीन दिन तक लगातार उसी लडकी के बारे में बातें करती रहीं। बड़ों का भी यही हाल रहा होगा! पर अचार-विचारों वाले ऐसे विषय में खुलकर बात नहीं कर सकते थे। गाँव में एक-दो रसिक भी थे। बड़े-बूढों के डर से वे भी ज़बान नहीं खोल सकते थे। गाँव में कोई खास हलचल न होने का कारण यह रहा कि सारा व्यवहार समझदारी से चला। वह नट-मण्डली गौडा से बख्शीश लेकर दूसरे गाँव चल दी। लड़कों के लिए तो वह खेल वहीं समाप्त हो गया पर गाँव के हिसाब से एक झंझट बाकी रह गया।

नट-मण्डली जिस दिन गाँव छोड़कर गयी उसी दिन वेंकटशामी और कुछ उसके दोस्त भी उनको छोड़ने गये। दूसरे लोग तो कुछ दूर तक जाकर लौट आये पर वेंकटशामी ने कहा, "मैं कुछ और दूर तक जाकर आता हूँ।" पर वह सारा दिन नहीं लौटा। पड़ोस के गाँव से आने वालों ने बताया कि उन्होंने वेंकटशामी को नट-मण्डली के साथ देखा। किसी के पूछने पर उसने मजाक में,

कहा कि वह उस नट-लड़की से विवाह कर रहा है। यह बात भी गाँव में पहुँच गयी। वेंकटशामी के घर में रोना-पीटना मच गया। उससे गाँव वालो को भी थोड़ी चिन्ता हुई।

वेंकटशामी की माँ ने अपने पति को बुलाकर कहा, "उसे बुला क्यो नहीं लाते?" उसकी बात पर पति ने कान नही दिये। थोडी ही देर बाद उसने फिर से ज़ोर देते हुए कहा, "अपने जाये पर इतना-सा भी ध्यान क्यों नही देते?" पिछले वर्ष वेंकटशामी की शादी की बात उठी थी। तब माँ ने कहा था, इतनी जल्दी काहे की है? नरसा ने अब वह बात उठाई। उसने ताने के स्वर में कहा, "मैंने जब लडके की शादी की बात कही तब तुमने अपनी गद्दी चली जाने के डर से मना कर दिया था। अब लो उस गद्दी का मजा।"

"अब इस गद्दी व गद्दी का मजाक छोड़ो। वह लड़का कही उस नट-लौंडिया से शादी-वादी न कर बैठे। इससे पहले जाकर उसे लिवा लाओ।"

उस पर पति बोला, "अरे! अरे! महारानी कितना बोले जा रही हो! क्या तुमने उसे किसी नट से जन्म दिया है जो वह नट-लौंडिया से बाँस चढ़ने लगेगा। उस लौंडिया ने जरा दाँत दिखाये होगे, वह वही खड़ा हो गया होगा। इत्ती-सी बात पर बावेला क्यों मचा रही हो? कुछ दिनो में अपने आप लौट आयेगा।" यह कहकर पिता ने बात खत्म कर दी। पर असमंजस में पडी माँ ने गौडा से फरियाद की।

गाँव की चौपाल पर बैठा गौडा कुछ लोगो से बात कर रहा था। वेंकटशामी की माँ का रोना-धोना सुनकर सबका ध्यान उधर गया। नरसा की तरह गौडा बात की उपेक्षा नही कर सकता। उसे गाँव का नाम बिगड़ने का डर भी तो था। यदि गाँव के नाई के लड़के को नटो की लडकी पटा ले जाए; तो लोमड़ी के शिकारी कुत्ता उठा ले जाने जैसी बात हो जाएगी। उसके गौडा पद का मान कहाँ रहेगा? उसने गाँव के चौकीदार को बुलाकर कहा "ऐ मरिया, जरा पास के गाँव जाकर नटो के मुखिया और वेंकटशामी को तो बुला ला।" तब वेंकटशामी की माँ यह सोचकर कि गौडा किसी प्रकार बेटे को बचा लेगा, घर लौट आयी।

वेंकटशामी को बुला लाने के लिए मरिया के जाने की जरूरत नहीं पड़ी। भोजन के समय तक वह घर आ गया। नरसा तभी खाना खाने को बैठा। तब माँ ने बेटे से पूछा, "क्यों रे शामी, कल घर क्यों नही आया?" नरसा आगे बात करने का मौका न देकर स्वयं बोला, "कोई काम रहा होगा। पड़ौस के गाँव में एक रात रह गया। उस बात को लेकर इतनी पंचायत क्यों?" वेंकटशामी हाथ-पाँव धोकर पिता के साथ ही खाने बैठ गया। उसकी माँ उस नटो की लड़की की बात उठा कर फ़ैसला कर लेना चाहती थी। उसे यह भी पता था कि उसका

घरवाला यह करने का मौका नहीं देगा। इसीलिए उदास होकर वह खाना परोसने लगी। खाना खाते-खाते वेंकटशामी ने पिता से कहा, "बापू, तुम से एक बात करनी है ?"

"क्या बात है, बेटा।"

"कल मैं राय साहब की हजामत बना रहा था। तब वे मेरे काम की सफाई देखकर बोले, 'वेंकटशामी तुम्हारे हाथ में बहुत सफ़ाई है। इतना बढ़िया काम करने वाले बंगलोर में भी नहीं। तुम अगर बंगलोर चले चलो तो महीने में तीस रुपये कमा सकते हो।' इसलिए बापू, मैंने सोचा है कि बंगलोर चला जाऊँ।"

माँ बोली, "क्यों रे शामी, अपने बापू से पूछ लिया तो हो गया, माँ से पूछने की ज़रूरत ही नहीं रही ?"

वेंकटशामी ने कहा "तुमसे बिना पूछे चला जाऊँगा क्या, माँ ? अब तुम दोनों साथ हो इसीलिए तो पूछा।"

पिता : "चले जाना।"

वेंकटशामी : "कल-परसों ही जाने की सोच रहा हूँ।"

पिता : "अच्छी बात है। पटवारी जी से पूछना है। गौडा जी से पूछना है। गाँव छोड़कर जाने की बात है न ! मालिक लोगों की भी तो मंजूरी लेनी पड़ेगी न !"

माँ : "पटवारी जी और गौडा मान लें तो लड़के को बंगलोर भेज दोगे क्या ? इकलौते बेटे को बंगलोर भेजकर हम यहाँ मस्ती मारेंगे क्या ?"

पिता बोला, "क्या बात है आज घर की मालकिन ! बड़ी ज़बान चला रही हो। बेटा बड़ा हो गया है इसलिए ज़्यादा बात करने की ज़रूरत नहीं। मुँह ज़रा बन्द ही रखो।" माँ बड़बड़ाकर चुप रह गयी। वास्तव में वेंकटशामी के पिता को मन में बड़ा डर लगा। उसने सोचा बंगलोर जाने की बात और उस नटों की लड़की की बात में कोई सम्बन्ध ज़रूर है। उस लड़की के साथ आठ-दस दिन घूम-घामकर आ जाता तो बाप मना नहीं करता। चार आदमियों के सामने ज़रा सिर ही तो नीचा करना पड़ता। अगर कोई बात उठती तो 'अभी लड़का ना समझ है' कह देने पर बात वहीं निबट जाती। पर अब तो ऐसा लगता है। कि यह गाँव में ठहरने वाला नहीं। लड़का अगर बंगलोर चला गया तो गाँव में दूसरा नाई आयेगा। पुरखों से आयी इनामती ज़मीन भी हाथ से निकल जाएगी। इसी तरह अनाज मिलना भी बन्द हो जाएगा। इसके साथ ही साथ मान-मर्यादा भी तो है। गाँव का नौकर होने की इज़्ज़त है। इसका भी तो एक रुतबा है। इस सब का क्या बनेगा ? बेटा अगर लड़की की बात उठाता तो उसे ज़रा समझाया-बुझाया जा सकता था। अब तो वह बात ही नहीं उठी।

जवान बेटे के सामने वह बात स्वयं उठाना नहीं चाहता था। उसे कुछ समझ में न आया। वह खाना खाकर गौडा के घर गया। उसके घर से निकलते ही माँ बोली, "अरे शामी, गाँव वाले पता नहीं क्या-क्या उड़ा रहे है ? क्या ऐसे चक्करों में पड़ना चाहिए ?"

"क्या बातें कह रहे हैं माँ ?"

"सुना है तू उस नटों की लड़की पर लट्टू हो गया है। सदा उन्हीं के साथ घूमता है ?"

"हाँ माँ।"

"क्या यह ठीक है ?"

"ठीक है या गलत यह तो मैं नहीं जानता पर उसके बिना मैं रह नहीं सकता।"

"अरे कैसी बातें करता है रे ? पैदा करने वाले और पालने-पोसने वालों का रत्ती भर भी ध्यान नहीं क्या ? जात-बिरादरी वाले क्या कहेंगे रे ?"

"इसीलिए तो बंगलोर जाने की बात कर रहा हूँ, माँ।"

"वह भी बंगलोर जा रही है क्या ?"

"यहाँ तो साथ रह नहीं सकती। बंगलोर जाकर देखता हूँ।"

"माँ-बाप सबको भूल जाएगा रे ?"

"भूल क्यों जाऊँगा माँ ? पैसे भेजूँगा।"

"तो उन नटों की लौंडिया मेरी बहू कहलाएगी क्या ?"

"वह बहुत अच्छी लड़की है माँ।"

"हाँ भैया, हाँ, तेरे लिए वह अच्छी है, तेरे बाप के लिए भी बहुत अच्छी है, देखने वालों के लिए भी वह बहुत अच्छी है।" यह कहकर माँ रोने लगी।

वेंकटशामी ने तो सोचकर इतनी बात की थी। पर आगे उस चर्चा का कोई अन्त नहीं दीखा। वह उठकर चल पड़ा। माँ बाहर आकर देखती तो समझ जाती कि वह उसी गाँव की ओर जा रहा था जहाँ उस लडकी का डेरा था।

वेंकटशामी का पिता जब गौडा के यहाँ पहुँचा तो उस समय नटों का मुखिया गौडा से बात कर रहा था।

"हुजूर, आप गाँव के गौडा हैं। आप ही जाँच करके इस बात का न्याय नहीं करेंगे तो हम जैसों का क्या बनेगा ? हम लोग कौवे खाने वाली जात के हैं। ये लोग मुर्गी खाने वाले हैं। इस लौंडे का सम्बन्ध हमारे साथ भला कैसे ठीक बैठेगा ! अगर यह लडका हमारी लडकी को उडा ले जाए तो हमारा पेट कैसे चलेगा ? मैं बूढा हो चला हूँ। मेरी औरत बाँस पर चढ़ नहीं सकती, बाकी छोरे अभी स्याने नहीं हुए। बाँस तोड़कर अगर हम चूल्हा सुलगाएँगे तो पेट कैसे भरेगा ?"

गौडा : "अपनी बेटी को उसके साथ जाने से मना क्यों नही करते ?" तभी नरसा आ पहुँचा तो उन्होने उससे कहा, "अरे तेरे बेटे की ही बातें चल रही थीं।" नरसा चुपचाप वहाँ सिर पर हाथ धरकर बैठ गया।

"मना तो किया है मालिक। उसका तो माँ-बाप को छोड़ने का इतना मन नहीं है पर इस जवान छोकरे को देखकर उसका मन जरा डोल गया है। बैठी रो रही थी। जैसे-तैसे इस लौंडे को अपने डेरे के पाससे भगा दिया। अब आगे पन्द्रह दिन तक हम खेल दिखा नही सकते। कही और ध्यान रखकर वह बाँस पर चढी और गिर पडी तो हमारा क्या बनेगा ? आप बडे दाता हैं, आप से कुछ पा कर हमारा पेट भर जाएगा। यह सोचकर हम आये थे। पर ऐसा हो गया।"

वेंकटशामी का बाप यह सब सुन रहा था। उसके मन को थोड़ी तसल्ली हुई। वह गौडा से बोला, "मैं भी यही कहने आया था, मालिक'। जब ये भी मना कर रहे हैं और हम भी मना कर रहे हैं तो वे क्या कर सकते हैं ! चार बड़े लोग मिलकर जरा फटकार लगायें तो बात बन सकती है।"

कुछ देर बात करने के बाद उन लोगों ने निश्चय किया कि नट उस इलाके से दूर चले जाएँ और ये लोग वेंकटशामी पर निगरानी रखें। वे दोनो अपने-अपने घर चले गये।

नट दूर के गाँव चले गये। पर क्या दूर चले जाने से वेंकटशामी वहाँ पहुँच नही सकता था ? इसके अलावा वे लोग बहुत दूर जा भी नहीं पाये। हमारे मैदानी इलाकों में तो चार गाँव पार कर लो तो बहुत दूर समझा जाता है। पर एक गाँव से दूसरा गाँव तो बहुत दूर नहीं रहता। जवान लड़का चाहे तो एक दिन मे ऐसी दस दूरियाँ लाँघ सकता है। वेंकटशामी ने उस लडकी से मिलना बन्द नही किया। माँ घर में लडती-झगडती ही रही। बाप भी बेटे से बोलना बन्द करके अपना गुस्सा दिखा रहा था। वेंकटशामी ने इन सबकी परवाह नही की। इतवार के इतवार हम लड़के तालाब के परली तरफ़, बेर, रसभरी या मकोय आदि खाने को घूमा करते थे। एक इतवार जब हम वहाँ गये तो वेंकटशामी और वह लडकी वहाँ थे। वेंकटशामी का अपना एक धनुष था। वह उस नट-लडकी के लिए कौवे मार रहा था। हमारे साथ के बड़े लड़के वेंकटशामी, उस लडकी और उसके शिकार को देखकर हँस पड़े। उस लडकी ने शर्म से पल्लू से मुँह ढाँक लिया। वेंकटशामी शर्माया नही। तब मुझे उन बड़े लडकों का हँसना समझ मे नहीं आया। बाद में वे सब कहने लगे, "देखा, लौंडिया से प्यार बढ़ाने के मारे कौवे मार रहा है।" यह बात सारे गाँव में फैल गयी। आज भी हमारे गाँव में यह मुहावरा बन गया है—"नटो से दोस्ती लगा के नाई के लौंडे ने कुत्ता खाया।"

उस दिन या दूसरे दिन हमारे गाँव के गौडा के घर का मरियप्पा उसी

रास्ते से आ रहा था। तब उसे लगा, वहीं घास पर दो जन खड़े हैं। भूत नही है यह पक्का हो जाने के बाद वह डरने वाला आसामी नही था। उसने मन में पक्का कर लेने के विचार से पूछा, "कौन है ?" वेंकटशामी बोला, "मैं हूँ मरियप्पा।" उसने पूछा, "अरे ! इस बेला में तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?" वेंकटशामी ने कहा, "हमारा बछड़ा गुम गया है। उसे खोजने आया था।" मरियप्पा ने दो कदम आगे रखने के बाद मज़ाक़ किया, "चलो बछिया तो मिल गयी।" मरियप्पा के मज़ाक़ का वेंकटशामी ने कोई उत्तर न दिया। वह मरियप्पा का संकेत समझ गया।

इसके कुछ दिन बाद एक रात जब घर वाले सोये हुए थे तब वेंकटशामी ने आकर दरवाज़ा खटखटाया। उसकी माँ ने दरवाज़ा नही खोला। उसने दुबारा दरवाज़ा खटखटाया। पति ने पत्नी से पूछा, "क्यों री, दरवाज़ा क्यो नही खोला, क्या मैं खोल दूँ ?"

माँ बोली, "उस आवारा के लिए दरवाज़ा क्या खोलना ? चुपचाप पड़े रहो। जब भी आये तभी कहे दरवाज़ा खोलने को। यह क्या रंडियों का कोठा है ?" वेंकटशामी को माँ की बात सुनाई दे गयी। जानबूझ-कर दरवाज़ा नही खोल रहे है, सोचकर वह चला गया। वह कहाँ गया, यह चार-पाँच दिन किसी को पता नही चला। पूछ-ताछ करने पर पता चला कि वह उस नट-लड़की के साथ कही चला गया। उन नटो का मुखिया आकर गौडा के पास अपना दुखड़ा रो कर गया। कोई भी भला क्या कर सकता था। सब चुप रह गये।

चार दिन बाद, यहाँ से पाँच मील दूर के गाँव का गौडा जब इधर आ रहा था तो वह गाँव में बुखार में पड़े वेंकटशामी को साथ लेकर आया। वह नटों की लड़की उसके साथ नही थी। उसका बाप उसे साथ लेकर चला गया था। वेंकटशामी खूब बीमार होकर अपने पिता के घर आकर पड़ गया। फिर वह बुखार से उठा नही। वह बहुत सुन्दर लडका था। चौड़ा-चकला मुँह, काला ज़रूर था, पर बडा प्यारा-सा काला, उसका काला रंग और मूँछों का कालापन, आँखो का कालापन ये तीनो काले रंग बहुत ही सुन्दर थे। उसका रंग काला होने से जब वह हँसता तो लगता बिजली चमक रही हो। सुता हुआ कसा शरीर। हथौड़े की चोट से भी उस पर कोई असर नही पड़ता था। ऐसे लड़के को भी बुखार ने ऐसे जकड लिया मानो उसे छोड़ने की इच्छा ही न हो। आजकल इसका जल्दी निदान हो जाता है कि यह विषम शीत ज्वर है, उस ज़माने में किसे पहचान मे आता था ! सब लोग सिर्फ़ यही जानते थे कि जीभ पर गन्दगी जम गयी है। वेंकटशामी को गाँव की दवाएँ दी गयीं, गाँव के ही पथ्य रखे गये। पन्द्रह दिन में ही वेंकटशामी चल बसा। सन्निपात में भी उसका बड़बड़ाना उस नटो की लड़की के बारे में ही था। बीच में जब उसे होश आया तो उसने उस

लड़की को बुलवाने को कहा। अगर ब्याहता होती तो ऐसे मौके पर उसे बुलाना और उससे सहानुभूति जताना न्याय-संगत था। लड़के को ग़लत रास्ते पर घसीटने वाली और उसके साथ आवारागर्दी करने वाली लड़की को इस बुखार में बड़बड़ाते लड़के के सिरहाने बुलाकर कौन बिठाता? अन्त तक वेंकटशामी उसे देख नहीं सका। मरने से पहले उसको मन में लगा होगा कि अब उससे इसकी मुलाकात हो नहीं सकती इसलिए उसने अपने बाप से कहा, "बापू, मैं एक बात कहता हूँ। पूरी करोगे?" बाप ने पूछा, "क्या बात है बेटा?" वह बोला, "अब मेरा अन्त आ गया है। मेरे लिए अपने खेत के पास की घास है न, वही जगह बनाना।" पास खड़े किसी ने कहा, "कैसी बात करता है रे? यह कोई अच्छी बात है क्या?" वेंकटशामी ने कहा, "अब अच्छी और बुरी से क्या लेना-देना। अगर यह नहीं कहूँ तो आप कहीं भी मिट्टी दे देंगे न?" वह आदमी बोला, "मरने वाले को चाहे कहीं भी मिट्टी दे दो क्या फर्क पड़ता है?" वेंकटशामी ने कहा, "मुझसे ज्यादा बोला नहीं जाता। वचन देते हो बापू!" पिता ने हामी भरी। क्षण भर बाद वेंकटशामी बोला, "हम तीन रात वहाँ सोये थे।" जहाँ तक मुझे याद है वही उसकी अन्तिम बात थी।

वेंकटशामी के गुज़र जाने के बाद उसके शव को उसकी इच्छानुसार उसी जगह दफ़नाया गया। उसके माता-पिता ने वहाँ पेड़ लगाये। जब मैं छोटा था तब वहाँ आने-जाने में डरा करता था।

●

मित्र की कही कहानी यहाँ समाप्त हो गयी। मैंने पूछा, "उस नटी की लड़की का क्या हुआ?" रामस्वामी ने कहा, "मुझे पता नहीं।" मैंने पूछा, "क्या यह ध्यान नहीं आया कि उसका पता लगाना चाहिए?" तब रामस्वामी बोला, "आज की बात होती तो ध्यान आता; या फिर तुम एक बड़े कहानीकार हो। तुम्हारी वजह से ही पता लगाया जा सकता था। तब हमें इसकी ज़रूरत नहीं लगी।"

तभी वहाँ एक वृद्ध गौडा ने आकर पूछा, "क्यों भइया, बैठ गये? कैसे हाल-चाल हैं?" तब रामस्वामी ने कहा, "ये हमारे मित्र हैं। इन्हें वेंकटशामी की कहानी सुना रहा था।" तब गौडा ने कहा, "ओह, यह बात है! देखिए, हमारे गाँव के नाई की वजह से हमारे गाँव का काम दूसरे नाई के पास चला गया।" तब मैंने कहा, "बेचारा जिन्दा रहता तो पता नहीं क्या-क्या सुख देखता! वह तो जवानी में ही चला गया। आपका काम तो कोई भी करेगा।" तब गौडा बोला, "ये सब बातें शहर की हैं। गाँव के लोग भला ऐसा कैसे कह सकते हैं! हमारे गाँव में अब दूसरा नाई आने लग गया है। हमारा नाई होता तो पूछ सकते थे, 'क्यों बे, इत्ती देर कर दी' अब दूसरे गाँव वाले से पूछ-ताछ तो

कर नही सकते।"

मेरे मन में वेंकटशामी की कहानी, रामस्वामी की उदासीनता और गौडा का अपने गाँव के प्रति प्रेम चक्कर काट रहे थे। हम तीनो वहाँ से चल पडे।

रामस्वामी की सुनाई कहानी मैंने आपको सुना दी है। मैं कह नही सकता कि यह आपके लिए कहानी है भी या नही। वेंकटशामी की उस एक मास की दौड़-धूप की बात की कल्पना करने से मेरे मन ने तो खुशी की अपेक्षा ज़रा दुःख ही अनुभव किया है। इसे सुनकर आपके मन मे क्या भाव उठेगा, मैं नही जानता! पर मैं सोचता हूँ उससे आप ऊबेंगे नही। चुपचाप सुनने पर चाहे जो भी भाव पैदा हो पर नाई के उस लड़के और नटों की उस लड़की के इस रास्ते में, उस तालाब के पास, उन पेड़-पौधों के बीच या इस खेत के चौक के पास उनके घूमने-फिरने की, परस्पर प्रेम की और उस लड़के के बुख़ार से मर जाने से ही प्रणय के समाप्त होने की यदि आप कल्पना कर सकें। तो उसके लिए और उसे खो देने वाली उस लड़की के लिए आपके मन में सहानुभूति अवश्य उत्पन्न होगी।

(प्रकाशन वर्ष :   )

दही वाली मंगम्मा

••••••• मंगम्मा बहुत साल से हमें वारी से दही दिया करती थी। यह वारी बंगलोर के ढंग की है। दूसरे शहरों में, रोज आकर दही देना और महीने के बाद पैसे लेने को बारी कहते हैं। पर लगता है कि बंगलोर में एसी बारी का रिवाज नहीं। आमतौर पर जब भी मंगम्मा हमारे मोहल्ले में आती, तब वह हमारे घर आकर, "दही लोगी माँ जी, बहुत बढ़िया है" कहती। हमें आवश्यकता होती तो हम ले लेते और उस दिन के भाव के अनुसार उसके पैसे दे देते या अगले दिन चुका देते। यह हमारी उसकी वारी की रीति है। वह अवलूर के पास के किसी गाँव की है। उसके गाँव का नाम शायद वेंकटपुर या कुछ ऐसा ही है। आते समय हमारे मोहल्ले से होकर ही आना पड़ता है और जाती बार भी हमारी तरफ से ही जाना होता है। मैं जरा उससे अच्छी तरह बात करती हूँ। इसलिए कभी-कभी गाँव से आते समय और सारा दही खत्म करके जाते समय दोनों बार मेरे पास आ जाया करती। आकर आँगन में थोड़ी देर बैठती, सबसे बातें करती। पान-सुपारी खाती। न रहने पर कभी-कभी हमसे पान-सुपारी माँगकर खाकर गाँव जाती। ऐसे मौकों पर यदि मेरे पास समय होता तो वह अपना दुख-सुख भी बताया करती। मुझसे भी सुख-दुःख पूछती। मुझे भला कौन-सा कष्ट था ? भगवान की कृपा से सब कुछ ठीक-ठाक ही था। मैं भला क्या सुनाती ? यही कि बिल्ली ने दूध पी लिया, चूहे ने कुम्हड़े में छेद कर दिया। तब वह "दुनिया ही ऐसी है" कहकर

अपने अनुभव की बातें सुनाती। बाद में यह भी कहती कि इस दुनिया में किस ढंग से चलना चाहिए। मंगम्मा मुझे बहुत अच्छी लगती। मुझमे और उसमे बहुत घनिष्ठता हो गयी।

हाल ही में कोई एक महीने पहले की बात है। मंगम्मा ने सवेरे-सवेरे आवाज़ लगाई, "दही लोगी माँ जी।" मैं भीतर कुछ कर रही थी। मेरा बेटा बोला, "हाँ लेंगी" और पास जाकर "दही दो" कहकर उसने हाथ फैलाया। मंगम्मा ने मटकी से थोड़ा अच्छा गाढ़ा-गाढ़ा दही निकालकर उसकी हथेली पर डाल दिया और बोली, "ज़रा जाकर माँ जी को जल्दी से भेज दो, मुझे जाना है।" इतने मे मैं आ गयी। मंगम्मा बोली, "माँ जी, सोने जैसा बेटा पैदा किया है। जैसे गुण तुम्हारे हैं वैसे ही उसे मिले हैं। पर इन सबसे क्या? ये लड़के के बड़े होने तक की बात है। बड़े हो जाने पर पता नही कैसी आयेगी। अब जो बच्चा अम्मा-अम्मा करता पीछे-पीछे घूमता है उसे ही यह पता नही होगा कि अम्मा जिन्दा है या मर गयी?" मैंने पूछा, "क्यों मंगम्मा, क्या हो गया? बेटे ने तेरी बात नही मानी?" वह फिर से बोली, "छोडिए माँ जी, भाँवरें लेकर आया पति ही जब बात नही पूछता था तो बेटा क्या सुनेगा?" इस पर मैंने पूछा, "तेरे घरवाले ने तेरी बात मानी क्या?" वह कहने लगी, "अरे, माँ जी, मेरे भाग्य में एक अच्छी धोती नही थी। किसी और ने पहन ली। वह साड़ी के चक्कर में उसी के पीछे लग गया। जो भी हो वह समझता रहा, मेरा घर है, मेरी घरवाली है। इसलिए मै भी चुप रही कि घरवाला तो है। सच कहती हूँ, अमृत बेचती रही, पति खा गयी। पता नही मेरे नसीब मे क्या-क्या लिखा है? पर तुम्हें एक बात कहती हूँ, ध्यान रखिएगा। घरवाला जब घर आये तो अच्छी तरह कपड़े-लत्ते पहनकर घूमा करो। मर्दों का मन बड़ा चंचल होता है। उनकी पसन्द की साड़ी-ब्लाऊज़ पहननी चाहिए। फूल, इत्र आदि लगाकर उनके मन को बस मे करना चाहिए। तुमने जो साड़ी अब पहन रखी है, काम-धन्धे के लिए तो यह ठीक है। जब घर में अकेली रहती हो, तो तब के लिए तो यह ठीक है। शाम के समय एक बढिया साड़ी पहनकर रहना चाहिए।" मुझे ज़रा हँसी आयी। लेकिन ऐसा लगा कि अनुभव से कितनी बड़ी बात कह रही है। साथ ही यह दुःख हुआ कि उस अनुभव के पीछे दुःख छिपा है। मैं बोली, "हाँ मंगम्मा, तुम्हारी बात सोलह आने सच है।" बाद मे मगम्मा बोली, "देखो माँ जी, आदमी को ढग से बस मे रखने के तीन-चार गुर हैं। कुछ लोग कहते हैं कि टोना-टोटका करो या जड़ी-बूटी खिला दो। अरे कहावत है, दवा करने से तो मशान ही पहुँचता है। ऐसे लोगो की बातें नही सुननी चाहिए। जब-तब कोई न कोई स्वाद की चीज़ बनाकर दो। आँखो को तृप्त करने के लिए अच्छी तरह से कपड़े-लत्ते पहन-ओढकर दुःखी रहने पर भी हँसकर बात करो। घर के

लिए जो चाहिए एक बार खूब मँगवा लो पर बार-बार माँगो मत। पैसा-पैसा जोड़कर जरूरत पड़ने पर एक-दो रुपये उन्हें थमा देने चाहिए। ये हैं सबसे बड़े टोने-टोटके। घरवाली ऐसा करे तो घरवाला घर में कुत्ते की तरह रहता है। अगर ऐसा न करे तो गलियों में भटकता है।" मुझे मंगम्मा की बात के चमत्कार से आश्चर्य हुआ। इधर-उधर की बातें करके मैंने उसे भेज दिया।

कोई पन्द्रह दिन पहले जब मंगम्मा घर आयी तो लगा कि वह बहुत दुःखी है। मैंने पूछा, "क्यों मंगम्मा, ऐसी क्यों हो?" वह बोली, "क्या बताऊँ माँ जी, ऐसा लगता है मेरी किसी को भी जरूरत नहीं।" यह कहकर उसने अपने पल्ले से आँसू पोंछे। मैंने पूछा, "क्या हुआ है? बेटे ने कुछ कह दिया क्या?" उसने कहा, "हाँ माँ जी, कुछ ऐसा ही हो गया। बहू ने किसी बात पर पोते की खूब पिटाई कर दी। तो मैंने कहा, 'क्यों री राक्षसी, इस छोटे-से बच्चे को काहे को पीट रही है?' तो वह मेरे ही ऊपर चढ़ बैठी। खूब सुनाई उसने। तब मैंने भी उससे कह दिया, 'मैं तेरे घरवाले की माँ हूँ। तू मुझसे इत्ती जबान लड़ा रही है! आने तो दे उसे।' वह महाराजा घर आया। उससे मैं बोली, 'देख भैया, इसने बेमतलब में अनजान बच्चे को इत्ती जोर से पीटा, मैंने मना किया तो मुझे ही चार सुनाती है। तू जरा अपनी घरवाली को अक्ल सिखा।' इस पर वह बोली, 'मुझे क्या सिखायेंगे! लड़का अगर कुछ ऊधम करता है तो उसे मना करने का हक मुझे नहीं? तुमने जैसे इन्हें पैदा किया वैसे ही मैंने उसे पैदा नहीं किया? मुझे अक्ल सिखाने चली हैं।' जो भी हो माँ जी, वह उसकी घरवाली है, मैं माँ हूँ। उसे कुछ कहा तो पलटकर जवाब देती है। मुझे कहें तो मैं क्या कर सकती हूँ। इस पर वह बोला, 'हाँ माँ, वह अपने बेटे को मारती है तो तुम क्यों उसके झंझट में पड़ती हो? तुम मुझे दण्ड दो।' तब मैंने कहा, 'क्यों रे, मुझी से गलती हुई, कहता है।' तब वह बोला, 'गलत हुआ या ठीक। कोई अपने बच्चे को मारे तो उसे मना किया जा सकता है क्या?' मुझे बहुत गुस्सा आया माँ जी। बात मेरे मुँह से निकल ही गयी, 'क्या कहता है रे, बीवी ने तुझ पर जादू फेर रखा है? वह चाहे बच्चे को पीटे तो भी ठीक है और मुझे गाली दे तो भी ठीक है, बहुत अच्छे। कल वह कह दे, माँ को निकाल दे तो तू निकाल बाहर ही करेगा?' इस पर वह बोला, 'और क्या किया जा सकता है माँ, अगर तुम यह कहो कि घरवाली रहेगी तो मैं नहीं रहती और मैं रहूँगी तो घरवाली नहीं रह सकती तो उस बेचारी को सहारा कौन देगा?' मैंने पूछा, 'तो मुझ बेसहारा का क्या बनेगा?' तो उसने कह ही दिया, 'तुम्हारा क्या है माँ, तुम्हारे पास गाय है, बैल है, पैसा है, तुम्हें मैं क्या पाल सकता हूँ?' मैंने पूछा, 'तो तुम्हारा कहना है कि मैं अलग हो जाऊँ?' इस पर उसने साफ कह दिया, 'तुम्हारी मर्जी। अगर तुम अलग होना चाहती हो तो रोकूँगा नहीं। मैं तुम्हारे झगड़ों में

तंग आ गया हूँ।' तब मैं बोली, 'अच्छी बात है बेटा, आज दोपहर से मैं अलग हो जाती हूँ। तुम और तुम्हारी घरवाली सुख से रहो।' कहकर दही लेकर चली आयी माँ जी।" यह कहकर मंगम्मा रो पड़ी। मैंने तसल्ली दी, "अरे! यह सब कौन-सी बड़ी बात है। लौटकर घर जाओ और सदा की तरह ही रहो। सब अपने आप ठीक हो जाएगा। जाने भी दो मंगम्मा।" कहकर दही लेकर उसे पैसे दिये।

अगले दिन जब मंगम्मा आयी तो पिछले दिन जैसी दुखी नहीं दीख रही थी। लेकिन मन पहले की तरह हल्का नहीं था। मैंने पूछा, "झगडा निबट गया कि नहीं मंगम्मा?" इस पर उसने जवाब दिया, "वह निबटने देगी क्या? कल दही बेचकर गयी तो मेरे बरतन-भांडे अलग रख दिये थे। एक कुठले में रागी और एक में चावल, थोड़ा-सा नमक-मिर्च सब एक तरफ रखकर आप खाकर और अपने पति को खिलाकर पाँव पसारे बैठी थी। आप बताओ माँ जी, झगड़ा कैसे निबटेगा? मैंने थोड़ा हिट्टु बनाकर खाया। मेरे मुँह से बातों का निकलना ही उनके लिए बहुत था। शादी के बाद बेटा कभी अपना रहता है माँ जी? ठीक है, जब उन्हें चाहिए नहीं मैं ही क्यों जबर्दस्ती करूँ? अलग ही रहने लगी माँ जी। रोज उसी बच्चे को थोड़ा-सा दही देकर बाद में बेचने आया करती थी। आज ठीक उसी समय वह उस बच्चे को लेकर कहीं चली गयी थी। मैं जानती हूँ कि उसकी यह चाल है कि मैं उस बच्चे से बात कर न पाऊँ।" इतनी छोटी-सी बात की कैसी रामायण बनती जा रही है, मुझे आश्चर्य हुआ पर मैं इसमें कुछ कर नहीं सकती थी। इधर-उधर की कुछ बातें करके मैंने मंगम्मा को विदा किया।

बाद में दो-एक दिन मैंने वह बात उठाई ही नहीं। ऐसा लगा कि वह अलग ही रहने लगी है। एक दिन उसी ने पूछा, "माँ जी, आप जो मखमल पहनती हैं न वह कैसे गज़ मिलती है?" मैंने पूछा, "क्यों मंगम्मा?" तब वह बोली, "इतने दिन तो बेटे और पोते के लिए पैसा-पैसा जोड़ती रही। अब भला क्यों जोड़ूँ? मैं भी एक मखमल की जाकिट पहनूँगी?" मैंने कहा, "एक जाकिट के सात-आठ रुपये लगते हैं, मंगम्मा।" उस दिन मंगम्मा ने जाकर दर्जी से वह कपड़ा लिया और वहीं सिलने दे दिया। दूसरे दिन वही पहनकर आयी। मुझसे कहने लगी, "देखो माँ जी, मेरा सिंगार। घरवाले के रहते एक अच्छी साड़ी नसीब नहीं हुई। वह तो किसी के पीछे लगा था। मैंने बेटे के लिए सब पैसे जोड़े, अब यह लड़का ऐसा हो गया। अब कैसा है मेरा सिंगार।"

मुझे लगा कि बेटे से अलग होने के कारण दुःख से मंगम्मा को ज़रा मतिभ्रम हो गया है। जब ज्यादा गुस्सा आ जाता है तो हर किसी के साथ ऐसा ही हो जाता है। मैंने कुछ न कहा। पर उस जाकिट के कारण उसे किसी दूसरे

से झगड़ा मोल लेना पड़े। उसके गाँव का एक लड़का बंगलोर में पढ़ रहा था। वह फिरंगियों की तरह अथवा पढ़े-लिखे हम जैसों की तरह जरा नफ़ासत से कालर-टाई पहनता था, जरा शौकीन था। उसने एक दिन मंगम्मा को देख कर पूछा, "क्या बात है अम्मा, एकदम मखमल की जाकिट ही पहन ली है?" तब मंगम्मा ने कह दिया, "क्या रे लड़के, यों बढ़ बढ़कर बातें कर रहा है? तू तो गले में फाँसी लटकाये घूमता है, मैं जाकिट नहीं पहन सकती।" दोनों में तू-तू मैं-मैं हो गयी। पास खड़े चार लोग हँस पड़े।

अगले दिन मंगम्मा ने ही यह बात मुझे सुनाई। दूसरों की बात तो दूर उस बहू ने भी मंगम्मा को सुनाते हुए कहा, "बहू को एक जाकिट सिलाकर नहीं दी। सास अलग हो गयी और अब मखमल की जाकिट पहनने लगी है।" मंगम्मा ने ब्याह में बहू को कानफूल, कड़े, झुमके, गले की जंजीर, कण्ठी, और तगड़ी यह सब दिया था। बाद में भी साल के साल कोई न कोई गहना बनवा देती थी। बहू को याद नहीं रहा। मंगम्मा उसकी बात सुनकर एक-दो बार तो चुप रही, बाद में वह अपने को रोक न पाई। एक दिन रात को जाकर बेटे से कह दिया, "तेरी घरवाली बड़ी बातें बनाती है। मेरी जाकिट पर ताने कसती है। कहती है, मैंने उसे कुछ भी नहीं दिया। क्या मैंने कुछ नहीं दिया? कड़े, कानफूल-झुमकी, पदक, क्या यह सब मेरे दिये हुए नहीं?" बहू ने पति को बोलने का मौका ही नहीं दिया, वहीं बोली, "अब तो घरवाला भी नहीं, ऊपर से बुढ़िया भी हो गयी हो। अब कानफूल और तगड़ी पहनोगी? ले जाओ, पहन लो। वहीं बैठे पति ने उससे कहा, "क्यों री तू बकवास किये जा रही है?" फिर माँ से बोला, "माँ, मैं तुम लोगों का झगड़ा पसन्द नहीं करता। अगर तुम्हें चाहिए तो सारे जेवर ले जाओ।" मंगम्मा बोली, "देखो माँ जी, रास्ता चलने वाले भी अपनी पत्नी से यह नहीं कहते कि तुम ऐसी बात कहो। 'चाहिए तो जेवर लेकर चलो जाओ, कहकर उसने सारा दोष मुझी पर मढ़ दिया। अब यह जन्म किस लिए?" यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। वह भी बुढ़िया हो चली थी। एक ही बेटा था। इसकी पत्नी को अपनी सास और पति की अच्छी तरह देख-भाल नहीं करनी चाहिए? यह सब झमेला क्यों? सिर्फ़ इसलिए न कि बुढ़िया ने अपने पोते को पीटने को मना किया। भला यह सब क्या हो रहा है! बात मुझे समझ में आयी। जहाँ भी देखो झगड़े का कारण ऐसा ही होता है। जब कोई एक दूसरे को पसन्द नहीं करता तब छोटी बातें भी बड़ी हो जाती हैं। बेकार के झगड़े उठ खड़े होते हैं। उससे सम्बन्धित सभी लोगों को बेहिसाब दुःख उठाना पड़ता है।

कुछ दिन बाद एक दिन मंगम्मा बोली, "माँ जी, आप बहुत भली हैं, मेरे पास थोड़े-से पैसे रखे हैं, उसे कहीं बैंक में रखवा दीजिए, उन पर कई लोगों

की आँखें लगी हैं।" मैंने पूछा, "ऐसा क्या हो गया ?" वह बोली, "माँ जी, कल ही की बात है। हमारे गाँव में रंगप्पा नाम का एक आदमी है। वह कभी-कभार जुआ-वुआ खेलता है। बड़ा शौक़ीन तबियत का है। मैं जब दही लेकर आ रही थी तो वही यह टपक पडा और पूछने लगा, 'क्यों मंगम्मा अच्छी तो हो ?' तब मैंने कहा, 'क्या अच्छा और क्या बुरा; जो है तुम्हें पता नहीं ?' तब वह बोला, 'हाँ भई, तुम्हारा कहना ठीक है। आज के ज़माने मे भला कौन सुखी है, आज कल के लड़को की ज़बान का क्या ठिकाना ? हमारे जैसी उमर के लोगों को तो बस देखते रहना ही पड़ता है। और कर भी क्या सकते है।' वह वैसे ही साथ चला आया। रास्ते में अमराई वाला कुआँ है। वहाँ से गुज़रते समय मुझे डर-सा लगा, मैं सोचने लगी, पता नही यह क्या कर डाले ? अण्टी में काफ़ी पैसे थे। कही इसी के लिए तो पीछे-पीछे नही आया ? वही बोला, 'जरा चूना दोगी ?' मैंने दे दिया, वह लेकर चला गया। आज भी आते समय वहीं आकर मिला माँ जी। इधर-उधर की बातें करता-करता बीच मे बोला, 'मंगम्मा, मैं ज़रा तकलीफ़ में हूँ। थोड़ा-सा क़र्ज़ दोगी इस बार रागी बेचते ही लौटा दूँगा। मैं बोली, 'अरे भैया, मेरे पास पैसे कहाँ ?' तब वह कहने लगा, 'जाने दो मंगम्मा क्या हमें पता नही ? पैसे को यहाँ-वहाँ गाड़कर रखने से भला क्या मिलता है ?' फिर थोड़ी देर बाद वही बोला, 'तुम्हारा बेटा तुम्हारे साथ रहता तो मैं तुमसे कर्ज नही माँगता। मैं जानता हूँ। तुम अपनी बहू के लिए कोई न कोई चीज़ बनवाती रहती थी। अब वह बात तो नहीं रही।' देखो माँ जी, औरत अगर अकेली हो जाती है तो लोगो की आँखे उसकी तरफ़ लग जाती है।"

तब मैंने मगम्मा से कहा, "मैं अपने घरवाले से पूछकर बताऊँगी, मैंने उनसे इस बारे में कोई बात नही की।" दूसरे दिन मंगम्मा ने दही देने के बाद अण्टी से एक थैली निकाली। और कहने लगी, "माँ जी, ज़रा भीतर चलो, गिन लो।" तब मैं बोली, "मैंने अभी उनसे पूछा नहीं। अभी रखे रहो फिर ले आना।" मंगम्मा कहने लगी, "मुझे बहुत डर लगता है माँ जी। आज भी रंगप्पा आया था, अमराई के पास तक। कहने लगा, 'ज़रा बैठो मंगम्मा, ऐसी जल्दी भी क्या हैं ?' मेरे पास ये पैसे भी थे। मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धडकने लगा। अगर मैं नही रुकती और ज़बरन बाँह पकड़कर बिठा ले तो ? इस डर से बैठ गयी। वह दुनिया-जहान की बातें करता रहा। बाद में मेरा हाथ पकड़कर बोला, 'मंगम्मा, तुम कितनी अच्छी हो।' जवानी में भी घरवाले ने मेरा इस तरह हाथ नहीं पकड़ा। बाद में किसी और ने इस हाथ को नही पकड़ा। आज इसने आकर पकड़ा। मैंने हाथ छुड़ा लिया और 'क्या बात है रंगप्पा, आज बड़े रंग में हो। मेरा अच्छापन देखने को तुम मेरे घरवाले हो क्या ?' कहते हुए उठकर तेजी से चली आयी माँ जी। कल उसने पैसे माँगे थे, आज उसने मान माँगा। जिसने

मंडवे के तले बैठकर और बाँधकर, गठबन्धन करके, हाय थामा वह तो कभी का चला गया। भरी जवानी में घरवाले ने मुँह मोड़ लिया। कोई और होती तो यह सोचकर खुश हो जाती कि घरवाले ने तो पसन्द नहीं किया पर कोई तो पसन्द करने वाला मिला। पर मैंने अपना धर्म नहीं छोड़ा। इस बदमाश ने आ कर मेरा हाथ घरवाले से भी ज्यादा हक़ से पकड़ लिया था।"

मुझे लगा कि बेचारी का जीवन बेकार में ही दुखी होता जा रहा है। इसलिए मैंने कहा, "यह सब फ़जीहत काहे को करती हो मंगम्मा? चुपचाप जो हुआ उस पर मिट्टी डालकर बेटे के साथ रह क्यों नहीं जाती?"

"मैं तो रह जाऊँगी माँ जी, पर वह रहने दे तब न?"

"बेटे से यह सब बता दो।"

"हाय राम, हो-हल्ला करके मेरी बहू तो मुझे जाति से ही बाहर कर देगी। मुझे देर हो रही है। माँ जी, चलती हूँ। कल अपने उनसे पूछकर रखिएगा।" कहकर मंगम्मा चली गयी।

एक घण्टे बाद फिर से आकर बोली, "माँ जी, आज एक बात हो गयी।"

"क्या?"

"बच्चे के लिए थोड़ी-सी मिठाई लेकर टोकरे में रख ली थी।" मंगम्मा ने पहले ही बताया था कि उसके पोते को उसके पास बहू आने नहीं देती इसलिए मुझे यह समझ में न आया कि बच्चा कौन-सा है? मैंने पूछा, "किस बच्चे के लिए?" 'और कौन-सा बच्चा माँ जी? मेरा पोता ही तो?' मैं बोली, "तुम्ही ने तो कहा था कि वे तुम्हारे पास नहीं आने देते?" उसने कहा, "उसकी माँ तो मना करती हैं पर बच्चा क्या रुक सकता है? आँख बचाकर आ ही जाता है। कभी-कभी ज़रा दूध पी जाता है, कभी दही माँग लेता है। थोड़ा-सा कुछ मिल जाने पर नाच उठता है। अगर ज़रा शोर मचाता है तो 'मेरी माँ सुन लेगी' कहते ही चुप हो जाता है। बच्चों का खेल ही तो असली खेल है। उसी के लिए थोड़ी-सी मिठाई लेकर रखी थी। वह सूँकापुर है न उधर से आ रही थी। वहाँ एक आम का पेड़ है न, उस पर बैठा एक कौआ झट से मिठाई की पुड़िया उठा ले गया। देखिए आज कैसी अजीब बात हो गयी?" तब मैं बोली, "एक मिठाई की पुड़िया चली गयी तो क्या हो गया? फिर से खरीद लो।" मंगम्मा बोली, 'यह बात नहीं माँ जी, कहते हैं कि कौवे को आदमी को नहीं छूना चाहिए। इसीलिए कहा।' मैंने पूछा, 'छूने से क्या जाता है?' इस पर उसने कहा, "कहते हैं। उससे जान का खतरा हो जाता है। मुझे लगा कि मेरे दिन पूरे तो नहीं हो चले। बाद में यह सोचकर खुशी भी हुई कि चलो अच्छा हुआ। यह जन्म किसी को भी नहीं चाहिए। अच्छा है जल्दी से भगवान् के चरणों में पहुँच जाऊँगी। जो भी हो, आज यह हुआ।" मैंने उसे समझाते हुए कहा, "तुम भी कैसी पागलपन की बातें कर

रही हो ? पहले तो ऐसे रखकर लाओ कि कौवे को मिठाई आसानी से मिल जाय और अगर वह उठा ले जाये तो कहो कि जान का खतरा। यह कौन-सी अक्ल की बात है। जाओ, चुपचाप घर जाओ।" तब वह पूछने लगी, "तो आपका यह कहना है कि कोई डर नही है ?" मैंने कहा, "डर-वर कुछ भी नहीं। जितना झगड़ा होता है। उमर बढ़ती है दुबारा उस बारे में मत सोचो। हँसते-हँसते घर जाओ।"

मंगम्मा चली गयी। मैं उसकी मानसिक स्थिति के बारे में सोचकर आश्चर्य-चकित हुई। बेटा चाहिए, बहू चाहिए, पोता चाहिए, साथ ही वह घर की बड़ी है यह लालसा छूटी नहीं। जीवन के प्रति एक विचित्र-सी ऊब। फिर भी मरने की इच्छा नही। यह इच्छा नही, यह प्रकट करने का भी मन नही। हम सोचते हैं, ये गाँव के लोग हैं, कुछ जानते नही, कोई लुकाव-छिपाव नही। तो भी ऐसे लोगों की मानसिक स्थिति के पीछे भी परतों पर परतें हैं। बड़े घड़े में जैसे छोटा घड़ा समाया है। मैंने सोचा यह कैसा नाटकीय सूत्र है !

मंगम्मा जब फिर से आयी तो उसने एक समाचार दिया। अब पोता अपने माँ-बाप को छोड़कर उसके पास आ गया है। वह बहुत खुश थी। उसके साहस की प्रशंसा करते हुए बोली, "बित्ते भर का छोरा है। माँ को छोड़कर चले आने का मतलब क्या है ? कल दोपहर को आये लड़के ने 'फिर से माँ के पास नही जाऊँगा' कह दिया। इत्ते दिन चोरी-चोरी आया करता था। जब वह घर नही पहुँचा तो माँ ने आकर शोर मचाया, पीटने की धमकी दी। बच्चा 'मैं नहीं जाऊँगा' कहकर मेरी टाँग पकड़कर खड़ा हो गया। और कोई चारा न देखकर मैंने कहा, 'जा बेटा, 'उसके बाप' ने भी आकर बुलाया पर 'मैं नही जाऊँगा' कहकर मेरे पास ही रह गया माँ जी। दस दिन से अकेले घर में सोती थी। जरा डर भी लगता था। जो भी हो मर्द बच्चा है। भगवान् ने देखो उसको कैसी अक्ल दी। जवान बेटे ने मुँह मोड़ लिया और यह बित्ते भर का पोता 'मैं तो हूँ। तुम चिन्ता मत करो' कहकर आ ही गया। बहू ने तो सारी रात महाभारत मचाया। लाख जोर लगाने पर भी वह गया नही। सुबह यहाँ आते समय 'तू अकेला कैसे रहेगा ?' कहकर उसे उसकी माँ के दरवाजे पर ले जाकर खड़ा किया, तब वह भीतर गया और मैं यहाँ आयी।' अब मैंने पूछा, "अब अगर वह बच्चे को पीटे तो तुम क्या करोगी ? वह बोली, "अरे माँ जी, क्या उसे इस बात की खुशी नही होगी कि बेटा एक बार तो घर आता है ? पास रहे तो मारने को मन करता है। देखो माँ जी, जब हम इकट्ठे थे तब मुझे कभी यह लगा नही कि मेरी बहू कितनी सुन्दर है, अब दूर से देखती हूँ। यह तो ठीक है कि उसकी भौंहें चढ़ी ही रहती है फिर भी वैसे बड़ी सुन्दर दीखती है। इसलिए तो मेरा बेटा उस पर लट्टू है। वह भी ऐसा ही है। तब यह पता नही चलता था कि कब घर आता था और कब

खेत पर जाता था। अब मैं घर के दरवाज़े पर बैठी यह देखती रहती हूँ। इतनी जल्दी क्यों चला गया? इतनी देर तक क्यों नहीं आया? माँ जी, उसे भी तो ऐसा लगता होगा न? यदि वह पीटेगी तो दही बेचने को निकलूँगी तो मेरे साथ ही चला आयेगा। नौ महीने पेट में रखकर पीर सहकर पैदा किये बच्चे को छोड़ देगी क्या?" मुझे यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि वह कितनी दूर तक सोचती है। तब मुझे लगा कि कुछ ही दिनों में उनका झगड़ा निबट जाएगा और सभी सुखी रहेंगे।

हुआ भी ऐसा ही। दो दिन बाद लड़का माँ के पास गया पर उसके दूसरे दिन ही "दादी के साथ मैं भी बंगलोर जाऊँगा" कहकर जिद पकड़ ली। बेचारी बुढ़िया के लिए सिर पर दही की मटकी वाला टोकरा और गोद में पोते को लेकर तीन मील चलकर आना असम्भव था। उसकी समझ में न आया कि क्या करे? बेटे और बहू ने भी आकर समझाया, "उस दिन हमसे गलती हो गयी। तुम भी गुस्सा करके अगर यूँ रहोगी तो कैसे चलेगा माँ!" गाँव के चार बड़े-बूढ़ों ने भी उसे समझाया, वह भला क्यों अपना बड़प्पन खोती? मंगम्मा अपनी इच्छा से ही फिर से खुशी-खुशी अपनी बहू के साथ रहने लगी। परन्तु पोता तो दादी के पास ही रहने की जिद पकड़े बैठा था। इसलिए एक नया प्रबन्ध था। शुरू से ही दूध व दही का व्यापार मंगम्मा के हाथ में था। बहू के आने पर भी मंगम्मा ने उसे अपने हाथ में ही रखा। जब कोई बहू बनकर आती है तो घर के खाने पकाने की जिम्मेदारी भी उस पर पड़ती है। वास्तव में बात यह थी कि दही बेचने पर चार पैसे हाथ आते थे। अब पोते ने सदा दादी के पास रहने की हठ पकड़ी थी। बहू बोली, "इतनी धूप में इस उमर में तुम क्यों बाहर फूँकती हो। भला कितने दिन यह काम कर सकोगी? घर में ही खाना-पीना बनाकर मालकिन की तरह रहो। दही बेचने का काम मैं देख लेती हूँ।" मंगम्मा ने कह दिया, "ठीक है।" साथ ही यह भी कहा, "कभी-कभार मैं चली जाऊँगी। पर रोज जाने का काम तुम्हीं करो।" एक दिन सास-बहू दोनों आयीं। एक की गोद में बच्चा था और दूसरी के सिर पर मटकी वाला टोकरा। 'यही है, माँ जी मेरी बहू। बुढ़िया क्यों बेचारी अकेली रहे सोचकर इसने फिर से मुझे अपने साथ बुला लिया। साथ ही यह भी कहा, 'तुम बेकार में धूप में मत घूमो।' मैंने भी मान लिया है। आगे से यही दही बेचने आयेगी। "यह बताकर मंगम्मा ने बहू को हमें दिखा दिया। मैंने सास और बहू से बात करके और 'संयम से काम लेना चाहिए' कहकर दो बातें अक्ल की समझाकर दोनों को पान-सुपारी देकर भेज दिया। आजकल वह बहू ही दही लाया करती है।

मैंने सोचा सास के बारे में तो इतना सब सुना, अब बहू क्या कहती है यह जानने की उत्सुकता मुझे हुई। इसलिए एक दिन मैंने कहा, "अरी, नजम्मा, तू तो बड़ी समझदार है। पर क्या सास को निकाल देना ठीक था?" उसने जवाब

दिया, "सास को निकाल देने को मैं क्या कोई राक्षसी हूँ। माँ जी ? मास हो जाने का मतलब सब बात उसकी रहनी चाहिए क्या ? जो अपने बेटे को मर्द भी न माने तो वह नामर्द नहीं हो जाएगा ? वह मेरा घरवाला है, मैं उसकी पत्नी हूँ। भला मैं घर कैसे चलाऊँ ? यह ठीक है उसने जन्म दिया, पाला पोसा, चाहे तो वह अपने बेटे पर अपना हक रखे। मैं चुप रही पर क्या मैं अपने बेटे को भी मार नहीं सकती ? तो मैं कहाँ की बहू रही ?" मैंने पूछा, "बेटा तुम्हारा है यह जताने को पीटना ही एक पहचान है क्या ?" वह बोली, "मारना, प्यार करना तो चलता है पर यदि मारने पर 'इसे क्यों मारती है' यह पूछती है तब प्यार करने पर 'क्यों प्यार करती है' भी पूछ सकती है न ? इसलिए इन सब से कौन माथा-पच्ची करे। मेरा बेटा, मेरा है। मेरा पति मेरा होना चाहिए। बहू होकर मैं अगर एक बात न कह सकूँ, एक थप्पड़ न लगा सकूँ तो मेरा घर चलाना किस काम का ?" मुझे मंगम्मा ने जब अपनी बात सुनाई थी तब लगा था कि उसकी बात सही थी। अब इसने अपनी बात कही तो लगा इसकी बात भी सही है। इस पर मैंने पूछा, "तो अब तुम्हें घर में कुछ छूट मिली ?" "अब पहले से ज़रा ठीक है। जो भी हो ज़रा बहुत सम्भलकर चलना ही पड़ता है। अगर झगड़ा करूँ तो मेरी सास पता नहीं किसे सारे पैसे दे डाले ? हमारे गाँव मे रंगप्पा नाम का एक आदमी है। जब मेरी सास अलग थी तब उसने मेरी सास से कर्ज़ माँगा। यह देने को तैयार हो गयी थी। यह रंगप्पा से ही पता चला था। तब मैंने बच्चे को सिखाया, 'तू अपनी दादी के पास चला जा, वह मिठाई देती है। हमारे घर कदम मत रखना झगड़ा किसी तरह निपटाने को मैंने यह सब किया माँ जी।" मैंने पूछा, "तो पोता दादी के पास अपने आप नहीं गया ?" वह बोली, "बच्चा भी गया मैंने भी भेज दिया, माँ जी। यह सब बताने की बातें थोड़े ही हैं। आदमी लोग यह सब समझते हैं।"

मुझे ऐसा लगा नंजम्मा भी अकल मे मंगम्मा से कुछ कम नहीं। उस घर में अब सास और बहू मे स्वतंत्रता की होड़ लगी है। उसमें माँ-बेटे और पति-पत्नी हैं। माँ बेटे पर से अपना हक छोड़ना नहीं चाहती और बहू पति पर अधिकार जमाना चाहती है। यह सारे संसार का ही किस्सा है। इसकी हार-जीत क्या होगी यह कहा नहीं जा सकता। पानी में खड़े बच्चे का पाँव खींचने वाले मगर मच्छ की-सी दशा बहू की है। ऊपर से बाँह पकड़कर बचाने की चेष्टा करने वाले की दशा माँ की है। बीच मे बच्चे को ही कष्ट होता है। गाँव में यह बात दही बेचने वाली मंगम्मा के घर में भी है और शहर मे दही खरीदने वाली तगम्मा के भी। यह नाटक चलता ही रहता है। इस नाटक का कहीं कोई अन्त नहीं है।

(प्रकाशन वर्ष : 1936)

हेमकूट से लौटने पर

मालिनी तट पर स्थित महर्षि कण्व के आश्रम के समीप हस्तिनावती से आश्रम को आने वाले मार्ग पर दो युवतियाँ बातें करती धीरे-धीरे चली जा रही हैं। एक बोली, "कम से कम आज भी आ सकेगी या नहीं? अब तो उन्हें पहुँच जाना चाहिए था।" दूसरी बोली, "पता नहीं क्या काम है? एक राष्ट्र की रानी इतनी आसानी से थोड़ा आ सकती है? आज नहीं तो कल आ जाएगी।" पहली बोली, "मुझे अपनी शकुन्तला को देखने की बड़ी इच्छा होती है। उसे देखे सात साल से ऊपर हो गये। पता नहीं अब कैसी होगी? बच्चे को तो हमने देखा भी नहीं।" दूसरी ने कहा, "इच्छा तो मुझे भी बहुत है। इन सात वर्षों में मालूम नहीं उसे कितनी बार स्वप्न में देखा होगा? हमारी शकुन्तला ने भी हमें कई बार याद किया होगा।"

पहले बात करने वाली अनुसूया थी, दूसरी प्रियंवदा। वे रानी शकुन्तला के आने की बाट जोह रही थीं। उसे पिछले ही दिन आ जाना चाहिए था, पर अभी नहीं आयी थी। बाद में आज आने की बात कहला भेजी थी। आश्रम के मुख्य द्वार पर आश्रम के प्रतिनिधि रानी के स्वागत को तैयार खड़े थे। उसकी सहेलियाँ उसके आश्रम पहुँचने की प्रतीक्षा न कर पाने के कारण रास्ते में चली आयी थीं। रथ पर आती रानी को पाँच क्षण पहले ही देख लेने की इच्छा उन्हें थी।

आने वालों की प्रतीक्षा में समय काटना बड़ा कठिन

काम होता है। ये लोग शकुन्तला के साथ बहिनों की भाँति काफ़ी वर्ष तक पली थी। ये शकुन्तला के जीवन के अर्धभाग के समान थी। उसे इन्होने सात वर्ष पूर्व दुष्यन्त के घर भेजते समय ही देखा था। उसके बाद इन्हे उसे देखने का अवसर ही नही मिला। जिस महीने शकुन्तला आश्रम से गयी उसके एक मास बाद गौतमी, शार्गरव और शारद्वात लौट आये। उनसे शकुन्तला के अपमान की बात सुनकर आश्रमवासी दुखी हुए। शकुन्तला का मेनका द्वारा ले जाया जाना, उसका मारीच आश्रम मे बच्चे को जन्म देकर सुख से रहना आदि का उनमे किसी को भी पता न था। ऋषि कण्व सम्भवतः जानते थे पर उन्होने कभी इस बात को किसी के सामने नही उठाया था। गौतमी ने एक बार ऋषि से अवश्य पूछा था: "बच्ची ठीक-ठाक है या नही ? किसी तरह समाचार मँगवाते तो मुझे कुछ तसल्ली होती।" तब ऋषि ने कहा, "वह सुख से है, पर अनिष्ट समाप्त होने मे कुछ और समय लगेगा; तब सब ठीक हो जाएगा। उससे पहले हमारी पूछ-ताछ से कुछ लाभ नही। समय पर उसका कुशल-समाचार हमें मालूम हो जाएगा।" शेष बाते उनमे पूछ पाना इनमे से किसी के लिए सम्भव न था। क्योकि वे इनसे आयु मे बहुत बडे थे।

इस प्रकार लगभग छः वर्ष बीत जाने के बाद एक दिन चक्रवर्ती की ओर से एक दूत ने राज-उपहारो सहित आकर कण्व ऋषि के सम्मुख राजा के हेमकूट मे शकुन्तला से मिलने और वहाँ से शकुन्तला तथा कुमार भरत को राजधानी ले जाने की सभी बाते निवेदन की! उस दिन आश्रमवासियो के आनन्द का पारावार न रहा। कुलपति पाँच वर्ष से हँसे न थे। उस दिन हँस पडे। सन्ध्या के समय हवन के बाद जब प्रियवदा और अनुसूया अपने-अपने बच्चो को आशीर्वाद दिलाने लाई तब ऋषि ने उन्हे प्यार किया और हँसाया। उस सारे दिन उनके सम्पूर्ण कार्यकलापो मे एक नवीन उत्साह दिखाई देता रहा। इतने संयमी व्यक्ति की यदि यह स्थिति हो तो बाकी लोगो का तो कहना ही क्या! सब लोग अत्यन्त प्रसन्न थे। आश्रम के वृक्ष और पक्षी भी झूम-से रहे थे मानो उन्हें भी पता चल गया हो। उन पर भी आज रखवाली कम रही। इसलिए उनको ऐसा लगा होगा मानो कोई त्यौहार है। इसके अतिरिक्त सात्त्विक लोगो के साथ रहने वाले मृग भी दूसरे प्राणियों के सुख-दुःख को समझने मे समर्थ होते है। दीर्घकाल से ही आश्रम मे बढने वाले ऋषियो के भागीदार वृक्ष भी उस दिन अपना स्वाभाविक गाम्भीर्य त्यागकर एक नव-उल्लास व्यक्त करने वाली ध्वनि कर रहे थे। 'कुलपति की पालिता पुत्री सुखपूर्वक है। पति के साथ राजमहल मे है। राष्ट्र की रानी बन गयी है, भविष्य के चक्रवर्ती का पालन-पोषण कर रही है'—यह भाव आश्रम में और वहाँ के शेष जीवन मे, मालिनी के प्रवाहमान प्रसन्न सलिल मे, तपोवन मे

बहने वाली हवा में, प्रकाश में, सर्वत्र व्यक्त हो रहा था। कुलपति ने दूत को उस दिन वहीं ठहराया और दूसरे दिन उसको उचित सम्मान के साथ विदा किया और उसके साथ राजा तथा पुत्री को आशीर्वाद भिजवाया।

शकुन्तला सुखी है; दस दिन की यात्रा के बाद हस्तिनावती पहुँच गयी है। अनुसूया, प्रियंवदा और गौतमी को भी उसे देखने की बड़ी इच्छा हुई। कुलपति कण्व को भी अवश्य इच्छा हुई होगी। उस दिन उसके साथ जाने वाले और निष्ठुरतापूर्वक बात करने वाले और उसे अकेली वहाँ छोड़ आने वाले शार्ङ्गरव और शारद्वत को भी कौतूहल हुआ होगा। पुरुष ऐसे अवसरों पर अपनी इच्छा जबान से निकलने नहीं देते पर स्त्रियाँ कहे बिना नहीं रहतीं। प्रियंवदा ने अनुसूया से कहा, अनुसूया ने नानी को उकसाया। उस बुढ़िया को यह बात कुलपति के सम्मुख उठाने का बहाना मिल गया। उसने खुशी-खुशी एक सन्ध्या को कुलपति से कहा, "हमारी बच्ची कैसी है? जाकर मिल आने की इच्छा होती है। यदि आज्ञा हो तो मिल आऊँ?" ऋषि बोले, "तुम्हारे जाने में क्या रुकावट है? पर लड़कियाँ भी जाना चाहेंगी। उन्हें छोड़कर कैसे जाया जा सकता है?" तब वृद्धा बोली, "उन्हें भी साथ ले जाऊँगी।" कुलपति बोले "उनके बच्चे छोटे-छोटे हैं, और वे जवान हैं, इसके अतिरिक्त रानी-राजा के पास बिना निमन्त्रण के आश्रमवासियों का जाना उचित नहीं।" वृद्धा और सखियों की आशा भंग हो गयी।

पन्द्रह ही दिन बाद शकुन्तला ने बड़ों को, छोटों को, हिरन को, गाय को, वट वृक्ष को, मल्लिका लता को, बिना किसी को भूले सबको उपहार भेजकर तीन दिन बाद स्वयं आश्रम आने का सन्देश भेजा। उसे कल पहुँचना था। सब लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। पहुँचने में कुछ देर हो जाने के कारण रानी ने दूसरे दिन आने का सन्देश भेजा। इसीलिए आज ये सब लोग उसके आने की बाट जोहते इस चिन्ता में थे कि वह आज भी आयेगी या नहीं।

जैसे शकुन्तला को देखने की इच्छा उसकी सखियों और गौतमी के मन में हुई उसी प्रकार शकुन्तला के मन में भी पिता, नानी, सखियों, मालिनी तट और आश्रम को देखने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। प्रिय पति से अपमानित होकर हेमकूट में छः वर्ष बिताने के बाद अट्ठारह वर्ष की नवयुवती अब पैंतीस वर्ष की प्रौढ़ा के समान जीवन के भार से झुक गयी थी। पति के आकर अपनी भूल स्वीकार कर लेने पर उसमें अब क्रोध के लिए कोई स्थान ही नहीं रह गया था। बाद में पुत्र को लेकर रानी बनकर हस्तिनावती आने पर भी उसका मन प्रसन्न नहीं हुआ। एक विशेष स्थिति को लाँघ जाने के बाद कैसी भी खुशी का अवसर क्यों न आ जाए मन फूल ही नहीं पाता। जब उसके जीवन में फिर से अच्छे दिन लौटे तब इस भावना की अपेक्षा कि 'अब मैं सुखी हुई' वह यह

सोचने लगी कि 'मेरे पिता अब चिन्तामुक्त हो गये, सखियो को अब कोई खेद नही, अब नानी को कोई फिकर नही। अब मेरे बेटे को मिलने वाला पद उसे प्राप्त हो जाएगा। अब मेरे व्यवहार के कारण वह उससे वंचित न होगा।' यही भाव मुख्य थे। इसीलिए उसे अपने लोगो से मिलकर उनका सुख-दुःख पूछने और अपने सुख की बात स्वतः बताने की इच्छा हुई। मन में तो महल में पहुँचते ही आश्रम जाने की बात उठी पर फिर भी सब कुछ नया होने के कारण अपने लोगों से मिलने की बात उठाने में उसे संकोच हुआ। वह चुप रह गयी। अपने सुख से पहुँचने का सदेश भेजते समय उसने बडे-छोटे सबको एक-एक बात कहला भेजी थी। राजदूत के लौटने पर आश्रम की सब बाते सुनी। उनकी बातों से वह समझ गयी कि अनुसूया का शारद्वत से और प्रियंवदा का शार्गरव से विवाह हो गया है।

इसके बहुत दिन बाद उसने राजा से कण्व के आश्रम के जाने की बात उठाने का साहस किया तब राजा बोले, "अवश्य जाना चाहिए। पर मेरा अभी वहाँ जाना ठीक नही। पिछली बार जब मैंने उस पुण्य भूमि में कदम रखे थे तब मैंने कुलपति के प्रति एक अपराध किया था। अभी उनके सम्मुख जाने का मुझमें साहस नही। तुम हो आओ।" शकुन्तला कुछ हँसते हुए बोली, "तब का आपका अपराध अब पिताजी को प्रिय लगेगा! इसके अतिरिक्त वे क्या ऐसे क्रोध को मन में रखने वाले व्यक्ति हैं?" तब दुष्यन्त ने कहा, "मेरे संकोच का कारण उनका क्रोध नही, मेरी अपराध-भावना अब भी मेरे मन से मिटी नही। तुम्हे कुछ दिन सुखपूर्वक रखने के बाद मुझमें वहाँ जाने का साहस आ सकेगा।" शकुन्तला बोली, "तो मैं भी तब तक नही जाऊँगी, जैसे पिताजी ने कहा था वैसे ही होने दीजिए।" पिताजी ने क्या कहा था यह राजा को मालूम न था, अतः उसने पूछा, "पिताजी ने क्या कहा था?" "सात वर्ष पूर्व जब मैं यहाँ आने को चली तो मैंने पिताजी से कहा था, 'पता नही अब इस आश्रम मे कब आ पाऊँगी' तो उन्होंने आज्ञा दी थी, 'जब तुम्हारे पति तपस्या के लिए आयेंगे तब उनके साथ आना'।" कण्व ने उस प्रसंग में एक और बात कही थी 'अपने पुत्र का पट्टाभिषेक करके अपने पति के साथ आना' पर बेटे के पट्टाभिषेक की बात शकुन्तला ने राजा से न कही। जीवन ने उसे काफी कुछ सिखा दिया था। राजा मुझसे प्रेम करने लगा है। बेटे के साथ अन्याय नही करेगा, यह उसे पता था। पर किसी भी बात पर अति विश्वास नही करना चाहिए। कण्व की बात को सुनकर राजा ने कहा, "वह तो उन्होंने हमारे आश्रम में स्थायी रूप से जाने की बात पर कहा था। जाकर मिल आने की बात पर यह लागू नहीं होता। जाओ उनसे मिल आओ।" शकुन्तला: "मैं आपकी दूत बनकर जाऊँ?" राजा: "तुम हँसी कर रही हो पर सच यही है।" इतनी सब बातें होने के बाद

रानी ने अपने आने का संदेश आश्रम भेजा।

जाने का दिन निश्चित हुआ। उस दिन प्रातः शकुन्तला पूजा समाप्त करके दूसरी रानी हंसपदिका से मिलने के लिए गयी। हंसपदिका शकुन्तला से पूर्व चार वर्ष तक राजा की प्रिया रह चुकी थी। वह गांधारराज की पुत्री थी, सुन्दरी और तेजस्विनी थी। उस सौन्दर्य और तेज ने चार वर्ष तक राजमहल में राज किया था। बाद में शिकार से लौटने के बाद राजा उससे एकदम अन्यमनस्क हो गया था और दूर रहने लगा था। यह उस समय की रानियों के लिए एक स्वाभाविक बात थी। उसे सन्देह हुआ कि राजा की नज़र में कोई और तो नहीं आ गयी। उसने उसके साथ शिकार पर गये लोगों से पूछताछ भी की। उसका सन्देह सच ही निकला। राजा में एक अजीब-सा परिवर्तन आ गया था पर रानी की ओर प्रेम-दृष्टि पुनः फिरी नहीं। कुछ समय के उपरान्त पता चला कि एक गर्भवती स्त्री आयी और उसने अपने को राजा से विवाहित होने की बात कही। इससे हंसपदिका का जीवन और सूना हो गया। राजा उसके प्रति फिर आकर्षित न हुआ। इस प्रकार कुछ समय पूर्व अपमानित होकर गयी शकुन्तला पुनः रानी बनकर लौटी। अब उसके साथ उसका पुत्र था। अब हंसपदिका ने समझा कि आगे उसे जीवन में किसी प्रकार के सुख की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसका विचार था कि शकुन्तला उसका तिरस्कार ही करेगी, परन्तु शकुन्तला के आने के दूसरे दिन ही उसके जीवन में पुनः आनन्द लौट आया। शकुन्तला पुत्र को जन्म देने के कारण पट्टरानी घोषित हुई थी। प्रथानुसार अन्य सब रानियों को उसके प्रति सम्मान व्यक्त करना चाहिए था। जब हंसपदिका आयी, तब शकुन्तला ने स्वयं उसे नमस्कार करके कहा "आप मुझसे बड़ी हैं, मैं अनजान लड़की हूँ, आप मुझे अपनी छोटी बहिन मानकर सब सिखाइए।" उसकी विनय देखकर हंसपदिका को आश्चर्य हुआ। उसने शकुन्तला को गले लगाकर कहा, "यह क्या बहिन, तुम क्या कहती हो? राजा तुम्हारी मर्जी से चलते हैं। हमें तुम्हारी इच्छानुसार चलना है। हम तुम्हें क्या सिखा सकती हैं?" शकुन्तला बोली, "मुझे राजा का प्रेम तो चाहिए ही पर साथ ही अपनी बहिनों का विश्वास भी।" इस प्रकार शकुन्तला ने उसके मन को जीत लिया। तब से इनका स्नेह बराबर बढ़ता रहा। पिता के आश्रम जाने के दिन उससे विदा माँगने जब शकुन्तला उसके पास आयी तब हंसपदिका ने, "कितने दिन वहाँ रहोगी? कब लौटोगी? वहाँ कौन है? आश्रम कैसा है?" आदि बहुत-से प्रश्न पूछे। उसके प्रश्नों से शकुन्तला को लगा कि उसे भी आश्रम देखने की अभिलाषा है। उसने हंसपदिका से पूछा, "आप भी साथ चलेंगी बहिन?" तब हंसपदिका ने कहा, "तुम अपनों के बीच जा रही हो, मेरे जाने से कष्ट होगा।" शकुन्तला ने उसे साथ चलने का आग्रह किया और मना लिया।

बाद में राजा तथा राजमाता की सम्मति भी ले ली। उसी दिन हंसपदिका के चल न पाने से दूसरे दिन जाने का निश्चय किया गया। इसलिए यात्रा एक दिन के लिए स्थगित हो गयी। आश्रम को एक दिन बाद पहुँचने की सूचना दे दी गयी थी।

'हस्तिनावती से कण्वाश्रम दस दिन का पैदल रास्ता था। तेजी से जाने वालों के लिए एक सप्ताह लगता। वाहनों पर जाने वाले सम्पन्न लोगों के लिए तीन-चार दिन की ही यात्रा थी। ,राजा ने रानियों को भेजने का पूरा प्रबन्ध किया। मोदकप्रिय माढव्य को भी उनके साथ जाने की आज्ञा दी। शकुन्तला के अपमानित होने के बाद एक दिन भी अच्छा भोजन प्राप्त करने की याद उसे न आयी! वैसे भोजन मिलने पर भी उसे याद रखना कठिन होता था! वहाँ से तो खाना भी नहीं मिलता था। शकुन्तला के आने के बाद गर्मी से तप्त भूमि पर वर्षा होने के समान उसकी स्थिति हुई। बारह वर्ष के अकाल का योग उसके लिए एकदम समाप्त हो गया। राजा ने तब से आज्ञा देना शुरू कर दिया कि माढव्य को ऐसा खाना बनाकर खिलाओ, वैसा खाना खिलाओ। इसके अतिरिक्त यह आज्ञा पाने के बाद कि उसे शकुन्तला और बडी रानी के साथ आश्रम जाना है, उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। इसका मुख्य कारण यह भी था कि अब वह राजा के प्रतिनिधि के रूप में जा रहा था, तब वह सेवक के रूप में गया था और किसी को बिना बोले चला आया था। यहाँ तक कि कुलपति से भी बिना मिले चला आया था। खुशी का दूसरा कारण यह भी था कि लोग यह समझेंगे कि वह कितना बुद्धिमान् है और राजपरिवार में उसका कितना मान है। भरत कुमार के साथ रहने से जी भर खेलने का भी अवकाश मिलने की सम्भावना थी। माढव्य एक रथ में बैठा और रानियाँ दूसरे में। थोडे-से अंगरक्षकों के साथ ये लोग हस्तिनावती से चल पडे।

चलते समय कुमार रानियों के साथ ही बैठा। वहाँ बैठने से पहले माढव्य ने उसके कान में कहा था कि कुछ दूर जाने के बाद तुम मेरे रथ में आ जाना, वहाँ खेलेंगे। भरत ने हाँ की। दो घड़ी की यात्रा के बाद उसे स्त्रियों के रथ पर बैठे-बैठे ऊब-सी होने लगी। तब उसने माढव्य के रथ पर जाने की इच्छा व्यक्त की। रथों को रोककर उसे उसपर बिठाया गया। रानियों को भी इससे सुविधा ही हुई। शकुन्तला के मन में तो यही इच्छा थी कि बेटा पास हो रहे, पर उसके साथ रहने पर वह बहिन का ध्यान न रख पा रही थी। अब उस रथ पर बैठे पुत्र को माँ की ममता से भरी दृष्टि से देखती हुई बड़ी रानी से इधर-उधर की बातें करने लगी। रथ में माढव्य ने सभी जानवरों व पक्षियों की बोलियों की नक़ल उतारकर सुनाई। पूरी यात्रा में माढव्य का यही काम रहा। माढव्य नकल उतारने में बडा दक्ष था। जब वह शेर की बोली बोला, तब

घोड़े घबड़ाकर तेजी से भागने लगे। इसी प्रकार उसने कौवे, कोयल, तोते, चीते, गीदड़, भेड़िये आदि की आवाजों की नक़ल करके कुमार को प्रसन्न किया। भरत ने उसे गधे की बोली बोलने को कहा। यदि प्रतिदिन ऐसे ही कहा जाय और माढव्य को उसका पालन करना पड़े तो यात्रा में साथ आये और लोग उसके बारे में क्या सोचेंगे! इस कारण उसने मना कर दिया। भरत ने रथ आगे निकालने को कहकर "अब बोलो" कहा। उसे सुनकर वह बोला, "दूसरी आवाजों की अपेक्षा तुम्हारी गधे की बोली ज्यादा अच्छी लगती है।" माढव्य खिन्न हुआ। पर तुरन्त ही उसे समझ में आ गया कि यह बड़ों के मुख से निकला व्यंग्य नहीं बल्कि बच्चे के स्वस्थ मन से निकली बात थी। रथ को तनिक आगे निकालने को कहकर उसने गधे की बोली बोलकर कुमार को प्रसन्न किया। इस प्रकार ये लोग रास्ते की ऊब से बचते चले।

दूसरे दिन लोग आश्रम के निकट पहुँच गये। आश्रम के समीप पहुँचते ही कुमार ने रथ को तेज करने के लिए कहा। वैसे उसने मुँह से तो यही कहा कि वह पहले जाकर माँ के आने की सूचना देना चाहता है, पर वास्तव में सबसे पहले जाकर आश्रम देखने और सबसे परिचय प्राप्त करने की इच्छा उसे थी। उस रथ का सूत भी युवक था। उसे भी दूसरे रथों से पहले ही पहुँचने की इच्छा थी। जो भी हो, इनका रथ दूसरे रथ से डेढ़ कोस आगे चला गया। इस कारण रानी के आगमन को उत्सुक अनुसूया और प्रियंवदा के सम्मुख यह तेजी से पहुँचा। दोनों ने उसे दूर से ही देख लिया। उसमें केवल माढव्य दिख रहा था। इसलिए वे उसे केवल पुरुषों का रथ समझकर उसका रास्ता छोड़कर एक ओर हो गयीं। कुमार ने माढव्य से पूछा, "काका, ये कौन हैं?" माढव्य ने बताया, "वे रानी माँ की सखियाँ हो सकती हैं।" कुमार ने उनको देखते हुए, "हाँ! हाँ" करते हुए रथ रोकने को कहा। रथ ठीक उनके सामने खड़ा हुआ। लड़का रथ से कूदकर उनके पास आया। उसके मुख की अनुहार से वे पहचान गयीं कि वह शकुन्तला का ही पुत्र है। वे अभी सोच ही रही थीं कि वह उसी का पुत्र है या नहीं, यदि है तो अकेला कैसे आ सकता है, तभी कुमार उनके पास आकर पूछने लगा, "आप माँ की सखियाँ हैं?" प्रियंवदा ने स्वीकार करते हुए पूछा, "माँ कहाँ है?" कुमार ने और पास आकर कहा, "पीछे आ रही हैं। आप प्रियंवदा और ये अनुसूया हैं न?" "तुम्हें कैसे पता चला?" कहते हुए अनुसूया ने उसे गोद में उठा लिया। उसने उसकी नाक पर उँगली टिकाते हुए कहा, "बड़ी मौसी का मुँह चौड़ा है, आपका मुँह लम्बा है। माँ ने यह बात मुझे बताई थी।" "इतने से पहचान गये। तुम बड़े बुद्धिमान् हो!" अनुसूया के पूछने पर वह बोला, "नहीं, माँ ने यह भी बताया था कि आपकी नाक भी जरा लम्बी है। इससे भी पहचान गया।" दोनों सखियाँ हँस

पडी और बच्चे से प्यार करने लगी। वे कहने लगी, "पिता जैसा ही है। खूब अच्छी तरह पल रहा है।" माढव्य तब तक पास आ पहुँचा था। वह इनसे बात करने लगा। इन्होने उचित उत्तर देकर पूछा, "रानी कितनी दूर है?" इतने मे एक और रथ दिखाई पडा। "वह देखो रथ!" कहते हुए अनुसूया बच्चे को गोद मे उतारकर उस ओर चली। प्रियंवदा भी बच्चे को गोद मे उठाकर उस ओर चल पड़ी। शकुन्तला ने दूर से इन लोगों को देखकर सूत को रथ रोकने की आज्ञा दी और रथ के रुकते ही उतरकर और हसपदिका को भी उतारकर सखियों के पास आयी।

सात वर्ष से बिछड़ी इन सखियों के पुनः मिलने के भावो का वर्णन करने की सामर्थ्य किसमें है! थोड़ी ही देर पहले प्रियंवदा ने सोचा था कि अब की शकुन्तला पहले वाली शकुन्तला नही है! यह तो रानी है, इसे किस प्रकार बुलाना चाहिए, कैसे सम्मान दिखाना होगा। रथ से उतरकर आती रानी को देखते ही उसके ये सब विचार मालूम नही कहाँ उड गये। उसने शकुन्तला को रानी कहकर भी न पुकारा अपितु सीधा "शकुन्तला अच्छी तो हो!" दूर से पूछा। उसका गला भर आया। आँखों से आँसू रुक न पाने पर, बाहर आ गये, पर वह न पाने पर वही रुके रह गये। अनुसूया तो बिना कुछ बोले ही शकुन्तला से जा लिपटी और उसके कंधे पर सिर रखकर सिसक-सिसककर रो पडी। शकुन्तला क्षणभर को अपने को भूल-सी गयी पर दूसरे ही क्षण साहस बटोरकर, "आओ अनुसूया, देखो ये कौन आयी हैं?" कहते हुए अपने को छुड़ाकर प्रियंवदा को पास खींचकर सखियों से हंसपादिका का परिचय कराते अपनी सहेलियो से बोली, "ये मेरी बड़ी बहिन हैं। मुझे अपनी सगी छोटी बहिन से ज्यादा प्यार से रखती है।" तब प्रियंवदा ने कहा, "आपके आश्रम में आने से हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई।" कुशल-क्षेम की बातों के बाद शकुन्तला ने पिता और गौतमी के बारे में पूछा। फिर आश्रम के अन्य लोगों के क्षेम समाचार पूछे। माढव्य एक ओर खडा था। उसने केवल इतना भर कहा, "हमारे कारण यात्रा मे आपको विलम्ब हो गया।" बाद मे बेटे को निर्देश देकर कहा, "इसने तो पहले ही आप लोगो से परिचय कर लिया है।" प्रियंवदा बोली, "हाँ, तुमने तो पहले ही हमारा वर्णन करके हमारी नाक मोटी बता दी थी।" शकुन्तला और हसपदिका हँस पडी। शकुन्तला ने बेटे से पूछा, "क्यों बेटे, भरत, बड़ो से ऐसी बाते करते हैं?" "मैंने पहले नही कहा माँ, बड़ी मौसी ने पूछा कि 'तुमने कैसे पहचाना?' तब कहा, 'आपका मुँह बडा है और छोटी मौसी का लम्बा है।' तब छोटी मौसी ने कहा, 'बस इतने से ही पहचान लिया?' तब मैंने कहा, 'नही। माँ ने बताया था आपकी नाक थोड़ी-सी लम्बी है'।" यह कहते उसने रास्ते मे पड़े पत्थर को एक ठोकर मारी। सब फिर हँस पड़े। बच्चों की बातें ही ऐसी होती हैं। स्नेह से या दुःख से जब बड़ो

का गला भर आता है तब छोटे बच्चों की एक बात उस उद्वेग को कम कर देती है। जन्म देने वाले और पालने वाले जब चिन्ता में डूबे रहते हैं तब बच्चों की हँसी उनके हृदय को प्रसन्नता से भर देती है। दिन बीतते जब बड़े लोग 'जीवन खाली हो गया' समझकर झुकने लगते हैं तब भूख से रोने वाला बच्चा यह चेतावनी देता है कि जीवन में अब भी बहुत कुछ करने को है। प्रियंवदा और अनुसूया ने फिर लड़के को प्यार किया और उसको साथ ले चली। साथ ही एक ओर शकुन्तला और दूसरी ओर हंसपादिका चली। पीछे से माढव्य आया। इस प्रकार रानियाँ और तापस तरुणियाँ बातचीत करते आश्रम की ओर चली। रथ पीछे आये।

धीरे-धीरे कदम रखते आगे चलते शकुन्तला ने अपने परिचित स्थानों को एक-एक करके पहचाना। वहाँ रास्ते में पास ही एक विशाल वृक्ष था। उनमें एक खोखला था। उसमें से निकलने वाले दाने! उधर मालिनी नदी से स्नान घाट से निकलने वाला रास्ता। और उस तरफ आश्रम के पेड़-पौधों के लिए ऊपर से निकला नाला। इस तरफ फिर हिरणों का झुंड! कुछ ने यह समझकर कि कोई आया है, खड़े होकर इन्हें कुछ देर तक देखा, कुछ 'कोई आये तो हमें क्या' कहकर सिर झुकाकर चरते रहे। शकुन्तला को लगा कि दुनिया आज भी वैसी ही है, पर तब का उत्साह फिर उसमें दिखाई नहीं दिया। जिस भूमि ने उसे पाला था उसे देखकर शकुन्तला को सन्तोष हुआ, पर साथ ही उसे यह चिन्ता भी हुई कि यह तो वैसा ही है पर उससे इसे वह सुख नहीं मिला। मन की उस स्थिति को शकुन्तला समझ नहीं सकी। जब वे सब आश्रम के मुख्य द्वार पर आये तब वहाँ शार्ङ्गरव और शारद्वत ने एक थाल में अक्षत लिये आगे आकर राजाशीर्वाद बोलकर बालक और रानियों पर अक्षत डाले। बाद में शकुन्तला को सम्बोधन करके कहा, "कुलपति यहीं रानी का स्वागत करना चाहते थे। परन्तु सन्ध्या के हवन का समय होने से यज्ञशाला में लिवा लाने के लिए आदेश देकर चले गये। आप लोग वहीं पधारिए।" शकुन्तला उनके इस ढंग को देखकर बहुत दुःखी हुई। परन्तु इन सब बातों को मना भी नहीं कर सकती थी। इसलिए वह चुप रही। शारद्वत ने समीप आकर धीरे से पूछा, "अच्छी तो हो बहिन," और कुमार को पास बुलाकर शार्ङ्गरव से कहा, "चक्रवर्ती कुमार बहुत योग्य है।" शार्ङ्गरव ने, "यह सब कुलपति का अनुग्रह है" कहा। सब लोग वहाँ से यज्ञशाला की ओर चले।

कुलपति होमाग्नि के सम्मुख बैठे थे। इनके आने की सूचना मिलते ही भीतर से एक बटु को भेजकर उन्हें भीतर आने के लिए आज्ञा भेजी। शकुन्तला की इच्छा हुई कि जाकर पिता से लिपट जाए परन्तु इतनी बड़ी आयुवाली स्त्री को, चक्रवर्ती की पत्नी को, चक्रवर्ती बनने वाले की माँ को ऐसा करना ठीक

नही है। उसने बच्चे को बुलाकर कहा, "आओ बेटे, नाना जी को नमस्कार करो, मैं भी नमस्कार करती हूँ।" कहकर घुटने टेककर पिता को नमस्कार किया। आशीर्वाद प्राप्त करके उठकर हंसपदिका की ओर सकेत करके कहा, "मेरी बहिन हैं। साथ आने को मान गयी, इनके आने मे आप लोगो को प्रसन्नता ही होगी, यही सोचकर मैं इन्हे बुला लायी।" कुलपति ने केवल सकेत से इन बातो को स्वीकार करके उनको आशीर्वाद के अक्षत से आशीष देकर बैठने को कहा। होम आगे बढा। कुछ देर होमाग्नि की पूजा से सध्या की पूजा सम्पन्न करके उन्होने कुशल समाचार पूछा। बालक भी उनके सामने अपना खेल-कूद का स्वभाव छोडकर बडा गम्भीर रहा। कुलपति ने हंसपदिका से बडे सम्मान से बातचीत की।

तब तक नदी से गौतमी भी आ गयी। "मैं सारी सध्या भर प्रतीक्षा करती रही। देखो ठीक तुम्हारे आने के समय ही मैं नदी की ओर चली गयी।" कहती हुई पास बैठ गयी। आने वाले सभी लोगो ने उसे भी नमस्कार करके आशीर्वाद लिये। कण्व ने कुछ देर तक राजा और उसके परिवार के बारे मे पूछताछ की। बाद मे गौतमी से बोले, "बेटी और रानी यात्रा से थक गयी होंगी, बच्चे को भी भूख लगी होगी, ले जाकर उनकी सुश्रूषा करो। सब उठे। महर्षि कण्व ने हँसते हुए प्रियंवदा और अनुसूया से अपने-अपने बच्चे को रानियों को दिखाने को कहा। उन्होने शर्माते हुए वैसा किया। ये सब अथिति-गृह गये।

सखियों और शकुन्तला के बीच करने के लिए बहुत-सी बाते थी। इस बात को समझकर रानी हसपदिका राजकुमार को भोजन कराने के लिए गौतमीदेवी के साथ भोजनशाला चली गयी। बाद मे आश्रम देखने के बहाने उसे लेकर इधर-उधर घूमकर विश्रामगृह मे लौट आयी। तब तक इन्होने शकुन्तला को अपने बच्चे दिखाकर उसके साथ सखी-सुलभ कई प्रकार की बाते की। दुर्वासा के शाप की बात, इन लोगों का डर जाना, उस बात का वही परिणाम निकलना, कण्व की व्यथा, शार्गरव और शारद्वत के राजधानी से लौटते ही गौतमी का इन लोगो के विवाह के लिए हठ, शकुन्तला की हिरणी का बच्चा देना और अब फिर गर्भिणी होना, शार्गरव का हठी स्वभाव, शारद्वत की सरलता और कण्व ऋषि की उदारता आदि के विषय मे बाते की। कुमार के भोजन समाप्त करके लौटने के बाद शकुन्तला ने उसे सुला दिया और स्वयं हंसपदिका के साथ भोजन करने गयी। यहाँ की सरलता देखकर हंसपदिका को आश्चर्य हुआ, खाने के बाद थोडी देर चाँदनी मे बैठकर सब सोने गयी।

उस रात को शार्गरव और शारद्वत को बच्चों की देखभाल करनी पडी। शारद्वत स्वभाव से साधु था। अतः उसे कुछ बुरा न लगा। शार्गरव थोडा कटु स्वभाव का था। उसकी इच्छा इतनी जल्दी विवाह करने की न थी। प्रियंवदा

को भी अभी विवाह की विशेष इच्छा न थी। लेकिन गौतमी हठ पकड़ गयी—सयानी लड़कियों को मैं अपने ही जैसे मानकर लापरवाह हो गयी। इस कारण ऐसा हो गया। अब और कुछ तुम लोगों से न हो जाए, इस कारण तुम लोगों का ब्याह हो ही जाना चाहिए। अनुसूया और शारद्वत विवाह को मान गये। पर प्रियंवदा के अभी तैयार न होने पर अनुसूया ने कहा, "तुम बड़ी हो और मैं छोटी। जब तुम्हें अभी विवाह नहीं चाहिए तो मुझे ही कौन-सी जल्दी है? थोड़े दिन बाद साथ-साथ ही विवाह करेंगे।" यह सब सुनकर कुलपति ने उसी वर्ष दोनों का विवाह करा दिया। अब अनुसूया के यहाँ एक पुत्री और प्रियंवदा के एक पुत्र था।

सब सखियाँ उस दिन विश्रामगृह में सोयी तो बड़ी देर तक बातें करके सोयीं। राजमहल से आयी शकुन्तला उस आडम्बरहीन अतिथि-गृह में ऐसे सोयी जैसे बुखार उतर जाने के बाद बच्चा अपनी माँ की गोद में सुख से सो जाता है। उसे नींद में बहुत दिनों से न दिखाई देने वाले स्वप्न दिखाई दिये। सुबह उठते ही उसे पता लगा कि कुलपति पहले ही आकर पूछताछ करके चले गये थे। रानियों ने उठकर स्नानादि करके यज्ञशाला में जाकर बड़ों को नमस्कार किया। बाद में शकुन्तला ने सखियों के साथ जाकर अपनी मल्लिका-लता को देखा। वह खूब फैल गयी थी। पास ही सहकार-वृक्ष था। तभी दीर्घापांगी आयी। पहले वह रानी को पहचान न पायी। उसके बुलाने पर वह दूर चली गयी। सखियों के उसे बुलाकर पास खड़ा करने पर वह उसे पहचान गयी और उसके हाथ-पाँव चाटने लगी। उसका बच्चा भी वहीं था, उसमें और उसकी माँ में अन्तर कर पाना कठिन था। शकुन्तला ने वहाँ से आगे जाकर राजा को पहली बार देखने वाली जगह, फिर अपने और उसके बैठने की जगह, अपने पत्र लिखने की जगह, परस्पर प्यार करने की जगह तथा मालिनी तीर के स्नानघाट आदि जगहों को देखा। अपने बचपन की बातें उसके सम्मुख चलचित्र-सी दिखाई दीं। वह उल्लास, वह उत्साह, वह सरल भावना उन सबका क्या कहना! आज उससे बढ़कर सुख की सामग्रियाँ उसके पास थीं पर वैसा सुख अब न था। शकुन्तला बहुत खिन्न हुई। उसे आज का जीवन कुछ और ही सा लगा। इच्छा में सुख नहीं। उसे लगा कि इच्छा की पूर्ति में भी सुख नहीं। इच्छा का पता न होना ही सुख है। इसी प्रकार सोचते हुए सखियों के साथ इधर-उधर घूमकर वह पुनः अतिथि-गृह लौट आयी।

दोपहर को शार्ङ्गरव ने आकर कहा, "उस दिन राजमहल में आपको छोड़कर आते समय मैंने बहुत-सी कटु बातें कही थीं; उन्हें आप भूल जाइए।"

शकुन्तला : "आप मुझे आप कहकर नहीं बुलाओ भैया। मैं चाहे कुछ भी क्यों न बन जाऊँ पर सदा आपकी छोटी बहिन ही रहूँगी। इसके अतिरिक्त उस

मौक़े पर आपने जो भी कहा उसमें कोई दोष भी न था। आज वह कैसे गलत हो सकता है। मुझे इतना ही पता है, आप मेरे बड़े भाई है। बाकी बातें मुझे कुछ भी याद नही।"

संध्या को महर्षि कण्व ने आकर कहा, "अगली बार जब तुम आओ तो चक्रवर्ती से कहना कि मैंने उन्हे बुलाया और उन्हे साथ ले आना। मेरे पास आने में उन्हे किसी प्रकार का सकोच नही करना चाहिए।"

शकुन्तला ने कहा, "अच्छा।"

अगले दिन प्रातःकाल उठकर शकुन्तला ने नित्य कर्मों से निवटकर अपने साथ लाये वस्त्राभूषण सबको बाँटे, बडों को नमस्कार किया, सखियों से विदा ली और हस्तिनावती वापस लौटी। इससे पूर्व आश्रम से उसके जाने का प्रसंग उसे और सभी को अच्छी तरह याद था। उस दिन वह पैदल गयी थी पर आज वह रथ पर जा रही थी। तब के गर्भ का बालक आज शुक्ल पक्ष की सप्तमी के चन्द्रमा के समान उसके साथ बैठा था। पहले की-सी शंकाएँ और सन्देह मन में न थे। आज दूसरे लोग भी बहुत प्रसन्न थे। शकुन्तला की मन.स्थिति में तब और अब मे विशेष अन्तर न था। वह अनजाने में ही आज भी उतनी ही व्यग्र हो उठी थी। उसे लगा कि यदि दुबारा आश्रम आना हो तो पति को साथ लेकर ही आना चाहिए। आने के बाद पुनः हस्तिनावती वापस लौटना नही चाहिए। पीड़ा रहित हँसी ही हँसी होती है। पीडा को पीकर हँसी हुई हँसी सच्ची हँसी नही होती। कण्व ऋषि की पालिता पुत्री को इस बात का अनुभव हो गया था। वह यही सोचते हुए रथ पर बैठकर हस्तिनावती जा रही थी कि सच्चा सुख मैं पीछे छोड़े जा रही हूँ।

(प्रकाशन वर्ष : 1936)

कवि के जीवन का अन्तिम दिन

महाकवि गेटे ने अपने 'फाउस्ट' नामक ग्रन्थ के दूसरे भाग को समाप्त करने के पश्चात् एक तरुण मित्र से कहा, "मुझे जीवन में जो काम करना था वह निबटा दिया। अब मेरे जीवन के बचे दिन केवल स्वर्ग के समान हैं।"

इसके बाद वह कुछ महीनों तक ठीक रहा। सर्दी शुरू हुई। शरीर कमजोर होने के कारण उसे सर्दी सहने में कठिनाई हुई। जैसे-तैसे उसने वह काट ही ली। परन्तु आखिरी दिनों में सर्दी लग जाने से जुकाम और बुखार से बिस्तर पर पड़ गया। वह तीन दिन तक इसी स्थिति में रहा। एक दिन बुखार ज्यादा हुआ और दूसरे दिन थोड़ा ठीक-सा लगा परन्तु आखिरी सात दिन अर्द्धमूर्च्छा (बेहोशी) में रहकर कवि ने देह त्याग दी।

अन्तिम दिन उसको दर्द या थकावट न थी। अर्द्ध-मूर्च्छा होने पर भी उसे ऐसा नहीं लगा कि यह दिन उसका अन्तिम दिन होगा या वह आज चल ही बसेगा। बेहोशी छाने के पहले कवि ने उसे देखने के लिए आये चिकित्सक से कहा, "कल या परसों तक मैं ठीक हो जाऊँगा।"

उसने पास खड़े नौकर से बड़े प्यार से बात की। बिस्तर ठीक करने वाली परिचारिका को भी बड़ी कृतज्ञता और दयाभाव से देखा। जब नौकर पास आया तो उसने तनिक मुस्कराकर प्यार से बातें कीं और चिन्ता न करने की सान्त्वना दी। इसके थोड़ी देर बाद ही 80 वर्ष तक कार्यरत रहने वाली इन्द्रियाँ जवाब दे गयीं और तन पर

एक हलकी बेहोशी का आवरण छा गया। आँखें बन्द होने पर भी नींद नहीं थी। अपने जीवन के 80 वर्ष कवि ने फिर से इन 60 मिनटों में जी लिये। 80 वर्षों के अनेक चित्र उसकी आँखों के सामने से गुजरे। वह इनका अभिनेता भी था और दर्शक भी। उन दृश्यों के प्रति अनासक्त होते हुए भी उसने आसक्ति का विलक्षण अनुभव किया।

वह माँ कितनी अच्छी थी। वे पिता, वे भी अच्छे थे। परन्तु उन्होंने अपने पुत्रों को अपनी इच्छानुसार बनाने का हठ किया और उससे स्वयं तो ऊबे ही, पुत्र को भी उबा दिया। माँ के स्नेह के कारण बचपन का वह कष्ट कुछ कम महसूस हुआ। दादी की दी हुई कठपुतली का नाटक रचाता रहा और बहुत खुश रहा। बाद में भी उसकी रुचि नाटकों में बनी रही। दादी की कठपुतलियों के कारण ही उसमें यह अभिरुचि उत्पन्न हुई या दादी ने ही उसकी अभिरुचि देखकर उसे कठपुतलियाँ दीं या किसी जन्म के कारण ही अभिरुचि के साथ कठपुतलियाँ भी उसे मिलीं, मालूम नहीं। जो भी हो, बाल्यावस्था के अनुकूल खिलौने उसे मिले। उसके जीवन के अन्तिम दिन अब आ पहुँचे। वह भाग्यशाली ही था। जहाँ जन्म लिया था वह गाँव भी अच्छा था। उसका घर भी अच्छा था। बाद का जीवन भी अच्छा ही बीता। आराम से बैठकर विलासपूर्ण जीवन बिताने का उसे अवसर नहीं मिला। जीवन-भर परिश्रम करना ही उसके भाग्य में था; पर परिश्रम में भी सुख था, सार्थकता थी। यश भी पाया। ऐसी भी बात नहीं कि उसने जीवन में विलास न देखा हो। संक्षेप में वह भाग्यवान् ही रहा।

वह बहिन बेचारी उसके (कवि के) समान भाग्यशालिनी नहीं रही। वह लड़की। उसने उसे अपनी प्रेमिका माना। उसने भी इसे अपना प्रियतम मानने का दिखावा किया। उससे आयु में वह कितना छोटा था। धोखाधड़ी न समझने वाले अल्हड़ किशोर के साथ उसका क्या मुकाबला? औरतें होती ही ऐसी हैं। पुरुष अपनी अनजान-अल्हड़ उम्र से लेकर संसार का अनुभवी वृद्ध होने तक किसी भी आयु में स्त्री का स्वभाव पूर्णरूप से समझ नहीं सकता। वैसे स्वभावतः स्त्री देखकर उसकी लार टपकने लगती थी। पहली बार विश्व-विद्यालय में पढ़ते समय रेस्टोरेण्ट के मालिक की लड़की उसे मिली थी। उसने उसे बहुत प्रेम था। उसे लगा था कि उससे ब्याह हो जाएगा। लगता था वह भी मान जाएगी, पर विवाह के बन्धन में बन्धने की इच्छा उस लड़की की न थी। इसके बाद गाँव में एक और लड़की से सम्पर्क हुआ। उसका मुख देखने से ही प्रेम का नशा चढ़ जाता था। परन्तु विवाह में कुछ अड़चनें आयीं। मन से हटकर विवाह करने की अनिच्छा, फिर दुबारा एक और विश्वविद्यालय का जीवन। वहाँ पढ़ते हुए एक गाँव में भी जाना पड़ा। वहाँ एक सात्त्विक परिवार से परिचय

हुआ। फ्रेडरिक कितने सरल स्वभाव की थी। उसका स्वभाव अंगूर जैसा था। उसमें परिपूर्णता थी, एक भराव था। उसका स्वभाव सम्पूर्ण समर्पण का स्वभाव था। विवाह का सोच-विचार न होते हुए भी स्नेह सम्बन्ध दूर तक चला। उसे छोड़कर चले आने पर वह मरने-मारने को उतारू हो गया। गनीमत थी कि मरा नही। कुछ वर्ष बाद किसी दूसरे से शादी करके बच्चों की माँ बन गयी। यह सब देखने के बाद इसे अपनी कमज़ोरी पर पश्चात्ताप कुछ कम हुआ।

इन सब जगहों पर उसे कैसे-कैसे अच्छे मित्र भी मिले। आयु में, अनुभव में, बुद्धि में उससे कितने बड़े थे वे। पर उन सबने कितने स्नेह से देखा, सहा भी। उन्हें मन ही मन गौरव देते हुए भी उनसे समानता का व्यवहार करता रहा। उसका स्वभाव शुरू से ही स्वाभिमानी था। वे सब यह समझते हुए भी इससे स्नेह करते रहे। उसकी कृतियों को पसन्द किया, प्रशंसा की और आगे बढ़ने का उत्साह देते रहे। वे बड़े लोग थे।

जीवन को जंगल की ओर आकर्षित करने वाली प्रवृत्तियाँ मनुष्य में कितनी हैं और उसको बचाने वाली कितनी। उसके यौवनकाल में उन दोनों प्रवृत्तियों का संघर्ष रहा। इसको उस लड़की से प्रेम था। वह उसके मित्र केस्टर्न की मंगेतर थी। वह केस्टर्न बहुत अच्छा आदमी था। इसके उसके प्रति प्रेम प्रदर्शन करने पर भी उसने इसका अहित नहीं किया। फिर भी वह एक नरक-यंत्रणा थी। फिर एक और सुन्दरी। उसके साथ घूमना-फिरना, हँसना-बोलना सब था, पर इसने विवाह की बात नही उठाई। इतने में किसी और ने उससे विवाह का निश्चय किया। फिर इसको जगह कहाँ थी, इसे उसे छोड़ने की इच्छा न थी। तब स्वभावतः नये आने वाले से मनमुटाव हुआ। अपने को इज़्ज़तदार मानने वाले साधारण जन के बीच इसका कोई स्थान न था। यह एक बार एक ऐसे समुदाय के सम्पर्क में आया जो अपने को प्रेमोपासक कहता था। मन-मुताबिक करता था। समुदाय इन विषयों में कभी-कभी अतिरेक की सीमा तक पहुँच जाता था। समुदाय में केरोलिन उसके दोस्त की प्रेयसी थी। वह उससे (मित्र से) शादी करने वाली थी। फिर भी इसके बारे (कवि के) में कितनी उदार रही। दस जनों के बीच से भी वह उठकर चली आती। उसे गले लगाती और चुम्बन दे देती थी। तब उसे यह सब अच्छा ही लगता था परन्तु कभी-कभी मन में प्रश्न उठता था कि क्या यह ठीक है ? मित्र को तो यह अच्छा नहीं लगता था। उन दिन बरसात के दिन जब ये लोग जंगल में फँस गये तब उसका गीत गाना, दोस्तों को उसे सुनाना कितने आनन्द के दिन थे वे।

अपने अनुभव को आधार बनाकर जो पुस्तक इसने लिखी इससे कितना यश मिला। बाद की पुस्तकों में भी इसी प्रकार का समय-समय के अपने अनुभवों

की आत्माभिव्यक्ति से इसने कितना आनन्द पाया। उससे पाठकों ने भी आनन्द प्राप्त किया। लोगो को वह कितनी पसन्द आयी। उसे अपना मन्त्री बनाने वाले राजकुमार ने भी पसन्द किया। आखिर में नेपोलियन, बायरन, स्कोर कार्यालय ने भी तारीफ़ की। ओह, वे अँग्रेज भी कैसे गुणग्राही है ! वे लोग भाग्यवान् है। ऐसा न होता तो उनके काव्य-लोक मे शेक्सपियर कहाँ जन्म लेता ?

कवि की मूर्च्छा तनिक और गहरी हुई। विचारधारा धीरे-धीरे स्वप्न का रूप लेने लगी। उसे लगा कोई व्यक्ति उसके पास आकर बैठ गया है। वह अँग्रेज था। लम्बा मुख, लम्बी नाक, विलक्षण रूप से चमकने वाली आँखे। कवि ने कहा "शेक्सपियर।" उस व्यक्ति ने "हाँ" कहा। कवि ने शेक्सपियर का नाम लिखने के लिए हाथ उठाया। अपने कपड़े पर 'डब्ल्यू' लिखा। शेक्सपियर के साथ बैठने मे ही उसे बडा सन्तोष मिला, शान्ति मिली। वह उस मुख की ओर कुछ समय तक निहारता रहा। नीद और गाढी हो गयी। स्वप्नावस्था ही मे एक ओर मुख दिखाई दिया। कवि ने उसकी ओर देखा। इस पर एक और अपूर्वभाव दीप्त था। इससे उसका कौतूहल और बढा। "तुम कौन हो ?"—वह व्यक्ति कुछ बोला नही। "हाफ़िज़ हो ?"—कोई उत्तर न मिला। "अरे मैं क्यों पूछे जा रहा हूँ ? तुम तो कालिदास हो।"—व्यक्ति न बोला, पर हँसकर सहमति जताई। बेचारा। जर्मन भाषा से अनभिज्ञ मेरे प्रश्नो का उत्तर कैसे देगा ! मेरी बात वह समझा नही होगा। पर ये कैसी आँखे ? शेक्सपियर की निगाह, बिना ऊबे संसार को बडी सूक्ष्म दृष्टि से देखने वाली निगाह थी। लेकिन यह नज़र मात्र झपकने भर में ही संसार को देख लेने वाली। वे पौर्वात्य लोग होते ही ऐसे हैं। निष्क्रियता के द्वारा ही सब कर्मफल प्राप्त कर लेते हैं। एक दृष्टिकोण से यह ठीक भी है, परन्तु यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाए तो इससे बढकर विवेक और क्या होगा। इसलिए ये लोग आध्यात्मिक दृष्टि-सम्पन्न होते हुए भी भौतिक रूप से गरीब रहते है। तब भी इनका बौद्धिक स्तर बहुत ऊँचा रहता है। कवि ने फिर उस व्यक्ति की ओर देखा। वह मूर्ति निर्विकार भाव से चुपचाप बैठी थी। "मैंने तुम्हारी शकुन्तला के बारे में एक श्लोक लिखा है, पता है ?" व्यक्ति ने अपनी मुखमुद्रा से यह व्यक्त किया कि उसे पता है। कवि बोला, "वसन्त पुष्पगुच्छ मे हेमन्त के खाली हाथों तक, बाल्य के अज्ञात से वृद्धत्व के ज्ञान तक, पृथ्वी के सौन्दर्य से स्वर्ग के आनन्द तक। क्या सबको एक शब्द मे देखना ही चाहते हो तो मैं शकुन्तला कहूँगा। इस एकमात्र नाम मे सब समाविष्ट है। यह मेरा लिखा श्लोक है।" व्यक्ति ने दूसरा रूप ले लिया। कवि ने पूछा, "तुम कौन हो ?" वह कुछ न बोला। "तुम हाफिज हो ?" मूर्ति ने हाँ मे सिर हिलाया। "हाफ़िज, हाफिज" कहते

हुए कवि भावविभोर हो गया।

हाफिज के समान ही उसे भी काव्य की प्रेरणा देने वाली थी विलिमर सुन्दरी। जुलयिका के नाम से उसने उसके (कवि के) ही बारे में कुछ प्रेम-कृतियों की रचना की थी। कैसी स्त्री थी। कितनी कुशाग्र मेधा, कितनी गुणवती। वह, उसका पति और गेटे नदी के किनारे वाले उस गाँव में आठ दिन कितने आनन्द से रहे। वह इतनी सुन्दरी तो न थी, पर अपनी चाल-ढाल और विलास से वह अच्छी सुन्दरियों से भी अधिक बढ़कर पुरुषों को मोहित कर लेती थी। उन आठ दिनों में उस दम्पति के साथ रहते हुए उसने स्वर्गिक सुख पाया था। फिर भी ललक थी उसमें, इच्छा रही होगी। उस चाँदनी रात में वह और यह जब दोनों ही उस घर में छत पर बैठे हुए थे, उसने कहा, "गेटे, तुम्हारे और मेरे एक साथ रहने में कुशल नहीं।" इसने भी उसकी ओर देखकर "हाँ" कहा था: दोनों ऊपर से उतरकर नीचे आये और अपने-अपने कमरे में चले गये। यह अगले दिन बिना किसी को बताए ही खिसक गया। विश्वसनीय मित्र से धोखा करना ठीक नहीं। स्नेह से समीप आयी स्त्री को खराब करना भी ठीक नहीं। उसकी सहमति होने पर भी इस सम्बन्ध में आगे बढ़ना उचित नहीं। उस समय पता नहीं कैसे मनुष्य को यह पता चलता है कि जीवन सुख मात्र के लिए ही नहीं है, धर्म के लिए भी है। जीवन एक रथ है। हम सब उस रथ के सवार हैं। प्रत्येक रथ को घोड़े तेजी से खींच रहे हैं। रास्ता बहुत अच्छा नहीं। कहीं गड्ढे हैं, कहीं टीले। कहीं सूखा है, कहीं पानी। बीच में से मार्ग है। इस रथ में बैठकर इन बेकाबू घोड़ों के साथ गड्ढे में टीले, पानी, सूखे से बचकर सीधे रास्ते पर जाना पड़ता है। किस तरह जाने में सीधा रास्ता मिलेगा यह हमें पता नहीं। किस तरफ जाना है, यह सोचने को भी समय नहीं रहता। कम से कम सामने के गड्ढे से बच निकलें टीले का चक्कर लेकर सही रास्ते पर पहुँच जाना ही काफ़ी है। इसी तरह भाग-दौड़ करते मनुष्य अपना जीवन समाप्त कर देता है।

इस प्रकार गड्ढे, टीले आदि सबसे उसने अपने को बचाए रखा। उसके कितने ही साथी इन गड्ढों में अपने रथों को फँसाकर नष्ट हुए। राजा यदि उसे अपना मन्त्री न बना लेता तो मालूम नहीं क्या हो जाता। यदि यह राजा के साथ न होता तो मालूम नहीं राजा क्या बनता। वह तरुण और धनवान् था। बिगाड़ने वाले सैंकड़ों पास थे। इसके-उसके साथ रह जाने से काम के समय काम और खेल के समय खेल की व्यवस्था बन जाने से इसका भी भला हुआ, राजा का भी और राष्ट्र का भी। फिर इनके थोड़े-से अविवेक से जनता को थोड़ा-बहुत कष्ट हुआ ही। शिकार की प्रवृत्ति होने के कारण राजा ने पागलपन से शिकार खेला। जनता का पैसा और कोई उपयुक्त सुर्य

न था। शिकार के लिए जंगली जानवर चाहिए, जानवरो के लिए जगल, जगल के लिए खेती कम होनी चाहिए। तो खेतिहरो का क्या हो ? अपने मनोविनोद के लिये पाले गये शेर का चारा अपने खेतिहर की गाय थी।

यह उसकी समझ में नहीं आया था। सुख मे पलने वालो को गरीबो के दुःख का अन्दाज़ नही लगता। बहुत दिनों तक ऐसा व्यवहार देखने के पश्चात् उसने एक ऐसा कार्य किया जिससे राजा को बात स्वयं समझ मे आ जाय। एक दिन शिकार खेलने के उपरान्त जब सब बैठे तो इसने एक किसान के वेष में आकर किसान के दुःख को व्यक्त करने वाली एक कविता पढी। राजा यह बात सह गया। उसने सोचा कि मन्त्री ने उसकी भलाई के लिए यह किया है। वह बड़ा होनहार युवक था, उम्र में उससे छोटा था। उसे तो इसके बाद मरना चाहिए था, पर विलासी जीवन के कारण बेचारा पहले चल बसा। जो भी हो, यही कहना चाहिए कि उसने अपनी जनता की भलाई को ही प्रमुखता दी थी। ऐसे लोग बहुत कम होगे जो ऐसी परिस्थितियो में पैदा होते हो और इससे (राजा से) अधिक बुराइयाँ न करते हो।

उस समय बान स्टाइन की पत्नी ने उसके जीवन को सुखमय किया। कुछ लोगो का कहना था कि इन दोनो का (उसका और बेटे का) सम्बन्ध उचित नही। जीवन में सही और गलत कहने वाले तो सब हैं पर केवल मात्र सही काम करके ही कौन जीवित रह सकता है ! लोग नीति-नीति की रट लगाया ही करते हैं। पारिवारिक जीवन यदि खोखला हो जाता है तो कोई भी आकर उसमें खुशी नही भर सकता। यदि वह अपने साथ सुखी रहती तो इसे उसके पास जाने की जरूरत ही न थी। पत्नी कैसी है यह जानने की उसके पति को आवश्यकता न थी। बातचीत को सुखकर बनाने के लिए यदि वह किसी से स्नेह करती है और उस पर पति को कोई आपत्ति नही होती तो दूसरों को क्या ? पर समाज में ऐसा होता ही है। वह बहुत चतुर थी। उसकी और इसकी आयु मे कितनी समानता थी। इसका और उसका काफी परिचय हो जाने पर भी कभी दोनो में सहवास नही हुआ था। एक रात को मिलने की अत्यधिक इच्छा होने के कारण वह घर से निकल पडा। उसके घर जाने का समय बीत चुका था। इसलिए भीतर न जाकर घर के एक-दो चक्कर लगाये। फिर अपने घर को लौटने लगा। उसने चार ही क़दम बढाए होगे कि सामने से उसी को आना था। उसने पुकारा, "गेटे" इसने 'हाँ" कहा। "अरे यह क्या, तुम यहाँ ?" गेटे ने सब कुछ बता दिया। "अरे पगले, इतनी इच्छा होने पर भी भीतर नही आना चाहिए था ? देर हो गयी थी तो क्या हुआ ?" इसे उससे मिलने की आकाक्षा का पता ऐसे लग गया मानो किसी ने पत्र या दूत द्वारा उसे सन्देश भेज दिया हो। यह अनजाने मे ही खिची हुई बाहर आयी थी। उसके और इसके

मन की घनिष्ठता क्यों रही। एक जीवन में दूसरों के साथ एक सहज सम्बन्ध भी होता है। उस सम्बन्ध को तोड़कर जाना दुःख का कारण बन जाता है और उसके साथ चलते जाने में सच्चा सुख मिलता है। इस प्रकार के मनवाले स्त्री-पुरुष पति-पत्नी न होने पर भी, सच्चे प्रेम का सुख भोगते हैं। ऐसा सम्बन्ध न रहने पर पति-पत्नी का सम्बन्ध होने पर भी, कितना भी प्रयास वे क्यों न करें, उस प्रेम का सुख नहीं पा सकते। वान स्टाइन की पत्नी ने अन्त में उसमें साधारण निष्ठा की आशा की। वृद्धा होने के बाद भी वह उसे छोड़ने को तैयार नहीं थी। पर ऐसा न हो सका, इसलिए मनमुटाव बढ़ा। वह कितने तीखे ताने मारती थी। कितनी त्योरियाँ चढ़ाती थी। पत्नी न होने पर भी उसने पत्नी से अधिक सताया।

विवाह और प्रेम—इनकी बात ही ऐसी है। क्रिस्टीन ने इसके बच्चे को जन्म दिया। बीस वर्ष तक पत्नी न होते हुए भी घर में पत्नी की तरह रही। विवाहिता न होने के कारण नेपोलियन के सैनिकों ने उसके साथ दुर्व्यवहार किया। इस अपमान से बचाने के लिए इसने उससे विधिवत् विवाह किया। तब तक वह स्त्री समाज में किसी गौरव की अधिकारिणी नहीं हो सकती थी। वह लड़का भी इसका औरस पुत्र न था। समाज की इस धूर्तता को क्या कहा जाय? सिलकर इस विषय में बड़े कट्टर विचारों का था। इसकी बातों में मतभेद रहा।

सिलकर बड़ा ही शक्तिशाली, धीर तथा बुद्धिमान था। उसका आत्म-गौरव अद्भुत था। जब उसे पैसे की जरूरत पड़ती राजा तक उसे देने के लिए तैयार था, पर सिलकर ने स्वीकार न किया। उसने कहा, मैं नाटकों की रचना करके धन कमा लूँगा। स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी परिश्रम करके धन के लिए उसने अपनी आयु घटा ली। इस प्रकार के जीवन को उसने स्वतन्त्र जीवन कहा। यह जीवन इसे पसन्द न था पर सिलकर की इस ग़लत धारणा के मूल में भलाई के अलावा और कुछ नहीं होता। सिलकर ने अपने जीवन को बड़े संयम में रखा था। उसमें चपलता न थी। यदि हो भी तो उसे वह सिर उठाने का अवसर नहीं देता था। इस प्रकार उसने प्रत्येक क्षण और दिन अपनी योग्यता को बढ़ाया। एक बार मिलने के बाद से दूसरी बार मिलने तक वह और ऊँचा उठ जाता था। उसमें बड़प्पन झलक उठता था। धन की दृष्टि से साधारण स्थिति होने पर भी उसकी चाल-ढाल, उसकी बातचीत राजाओं के समान और उनसे भी अधिक गम्भीरता लिए हुए थी। वह एक महान् व्यक्ति था, पर छोटी आयु में ही चल बसा। वह अपने देश के इतिहास पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ गया था। उसके स्नेह ने उसके जीवन को कितना आप्लावित किया था। वह कितने उत्तम कार्य की प्रेरणा थी। सिलकर ने न केवल स्वयं रचनाएँ कीं बल्कि

अपने मित्रों को भी लिखने की प्रेरणा दी। वह एक अपूर्व और उदार आत्मा वाला था।

सिलकर के स्वभाव में द्वेष को कोई स्थान न था। नासमझ लोगों ने इसकी और उसकी तुलना में बहुत-सी गलत बातें कही। परन्तु इन सबका उसने कभी बुरा नहीं माना। इन दोनों के विवेकशील होने के कारण बाहर की ऐसी बातों का उनकी मित्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरों के 'गेटे ऐसा' 'गेटे वैसा' कहने पर वह उत्तर देता, "आप लोग गेटे को नहीं समझते।" उनकी की हुई प्रशंसा को बस उस तक पहुँचा देता था। गेटे एक आदमी नहीं एक में से बीस है। गेटे योरोपीय साहित्य साम्राज्य का चक्रवर्ती है, कहकर वह प्रसन्न होता। अपनी प्रशंसा में उसे इतना सुख नहीं मिलता था। मित्र की प्रशंसा में उसे कितना आनन्द आता था!

वह भी कैसा मित्र था? हमबोल्ट कैसा अच्छा मित्र था। उसे उससे कितना स्नेह था। सिलकर जैसा स्नेह। मित्रता ने, स्नेह ने, मानो उसे चारों ओर से घेरकर पाला था।

सिलकर के नाटक जनता को बड़े पसन्द थे। रंगशाला में उसे कितना आनन्द आता था।

करीना बहुत ही खूबसूरत थी। मिन्ना भी सुन्दरी थी! कितनी सुन्दरी! अगाध सुन्दरी!

अर्धमूर्च्छा में कवि के सामने किसी का रूप उभर आया, वह स्त्री-मुख था। यह किसका मुख है? योनस्टाइन की सहज प्रौढ आँखें इसमें चमक रही हैं। परन्तु गर्दन के खम का ढंग करीना जैसा है। मुख का अल्हड़पन मिन्ना का-सा है। कान फ्रेडरिक के कानों की तरह छोटे हैं। यह नाक, यह गाल, ये होंठ, यह हँसी, ये भौंहे! किसने खींचा है इस लकीर को। ओह सुन्दरी! अरे सुन्दरी! यह हँसी किसकी हो सकती है?

सुन्दर मुख देख कवि नींद में ही बड़बड़ाया। सेवक पास आकर खड़ा हो गया। कवि अर्धमूर्च्छा में ही बोलता रहा। वह स्वगत बोले जा रहा था तभी पुत्रवधू एटली उसकी आवाज सुनकर कमरे में आयी। उसे मूर्च्छित देखकर आहट किये बिना बाहर चली गयी।

कवि के सम्मुख वह आकृति और स्पष्ट हो उठी। मूर्ति अब छाती तक दिखने लगी। उस आकृति को देखते हुए कवि का मन आनन्दित हो उठा। कैसी बाँहें, कैसा वक्ष, कैसा रूप। बचपन से जिस सौन्दर्य की इच्छा थी वह किसी एक स्त्री में थोड़ा-थोड़ा, किसी दूसरी में कभी एकबार, कभी अनेक बार, उसे आकर्षित करता रहा। राजा के साथ रहते हुए सौन्दर्य को बहुत पास से देखने का उसे मौका मिला। जो भोग लिया वह थोड़ा था, जो नहीं भोगा वह अधिक

था। भोगकर भी जब तृप्ति न मिली तो कवि रोम गया। उस विलासमय प्रदेश में उसने प्रेम को खूब जी भर पाया, भोगा। इटली के शिल्पियों ने संगमरमर में जो स्त्री मूर्तियाँ गढ़ी थीं, कवि को ऐसा लगा मानो वही सजीव होकर उसके आसपास से गुज़री हो। उसने उन्हें देखा, छुआ और पकड़ा। उस मूर्ति में सारा सौन्दर्य साक्षात् दिखाई दिया। इसके अतिरिक्त उसमें कुछ और भी देखा था। एक दूसरा सौन्दर्य। यह सिर किसका हो सकता है? तुम कौन हो? कौन? हैलेन। प्यारिस की प्रेयसी। त्रिलोक सुन्दरी। ओह, तुम केवल स्त्री ही नहीं पुरुष भी हो? तुम कौन हो? कौन? कौन?

वह स्त्री का रूप है या पुरुष का—कवि के मन में सन्देह था। यह किसका सौन्दर्य था, कुछ याद नहीं आया। वह अपलक निहारे जा रहा था। उस मूर्ति से वहीं ठहरने की उसने प्रार्थना की। वह भी स्थिर थी। कवि को उसे देखते रहने में तृप्ति मिली। उसे न चूमने की इच्छा हुई, न पकड़ने की। एक इन्द्रिय का स्पर्श कर उस सौन्दर्य ने सभी इन्द्रियों की इच्छा को लुप्त कर दिया। देखना भर ही काफी था। और कुछ भी नहीं चाहिए था। लगातार देखते हुए कवि को ऐसा लगा कि वह मूर्ति पहले कहीं देखी हुई थी। यह तो पहले स्वप्न में देखा हुआ सौन्दर्य है। और जो अदृश्य हो गया था वही सौन्दर्य उसने जीवन में चुना था। जो दिखा वह थोड़ा था, न दिख पाया वह बहुत था। अतृप्ति बनी ही रही। यदि एक इन्द्रिय तृप्त हो जाय तो क्या दूसरी तृप्त न होगी? अधपेट भोजन करने वाले की भाँति वह भूखा ही उठ बैठा था। राग का आदि सुनकर उसके असली स्वरूप को जानने के लिए और स्वरूप न पा सकने पर अन्त में उस स्वर को सरल बनाकर बजाने वाले गायक की भाँति कवि ने पहले कभी देखे उस रूप को फिर से देखा। ओह, तुम हो! अच्छा! अच्छा!— अर्धमूर्च्छा में ही वह बड़बड़ाया।

पुत्रवधू फिर से आयी। अर्धमूर्च्छा का प्रभाव कम होने से कवि ने आँखें खोलीं। सामने खड़ी चिन्तित तरुणी को देखकर थोड़ा हँसा। एटली भी धीरे से हँसी। वह सोच रही थी कि ससुर जाने बचेंगे या चल देंगे। अपने पति से उसे सुख या मान नहीं मिला था। परन्तु इस ससुर ने सांत्वना से, बातों से और दया की दृष्टि से इसके जीवन को जीने योग्य बनाया था। जब एटली बच्ची ही थी तब उसे गोद में खिलाया था। मित्र की पुत्री और सुन्दरी होने के कारण उसका अपने बेटे से ब्याह किया था। बेटे के दुर्व्यवहार से उसका जीवन बड़ा कटु बन गया था। उसका लक्ष्य अपनी बहू के प्रति वात्सल्य दिखाकर उसके जीवन की कटुता को दूर करना था। सामने खड़ी चिन्ता को हँसी से टालने का प्रयास करने वाली उस बहू को देखकर कवि का हृदय द्रवित हो उठा। आज वह फिर से बेटी बन गयी थी। एटली बहू बनने से पहले बेटी थी

ही तरह तो थी। वह इतनी सुन्दरी तो न थी पर तमाम सुन्दरियों से कम भी न थी। करुणा की आँखों से देखने वाले कवि को वह विशेष सुन्दरी न होने पर भी पुत्री के रूप में सुन्दर ही लगी। उसके सुन्दर पुत्री के रूप ने इसके मन को मोहा था। वह हँसते हुए बोला, "मुझे हाथ पर चुम्बन दो।" एटली ने हाथ बढ़ाया। कवि ने उसके हाथ को सहलाकर होठों पर रखकर स्नेह से चुम्बन लिया। इतने में ही वह थक गया। आँखें मूंदकर फिर अर्धमूच्छित हो गया।

फिर वही मुख। नहीं वह एटली का मुख है। न, वह तो उसकी बेटी है—वह का मुख है—नहीं—वही मुख है।

उसने सुख की खोज की थी। थोड़ा-बहुत मिला भी। इच्छा को क़ाबू में रखकर नीति के मार्ग पर चला था। तब उसे ऐसा नहीं लगा था कि उसे सुख मिलेगा पर बाद में सुख से दस गुनी अधिक तृप्ति उसे मिली थी। सुख तृप्ति है, तृप्ति-सुख को क्या आदमी अनुभव में ढूँढ सकता है? जिसे छोड़ना है क्या उसे ही ढूँढना है? कौन-सा अच्छा है—त्याग या भोग, सयम या इच्छा? हृदय की प्रेरणा से प्रेयसी रखनी चाहिए, या नीति मानकर एक पत्नीव्रती होना अच्छा है।

कवि इसी बात को मन में दोहराते हुए थोड़ी देर तक सोचता रहा। बहुत सोच-सोचकर मन थक गया था। क्या ठीक है, क्या गलत, यही प्रश्न मन में बार-बार चक्कर लगा रहा था। 'क्या ठीक है।' मानव के पास के अब तक के ज्ञान के बराबर ही आधार पर कह पाना कठिन है। कुछ और प्रकाश हो तो कहना शायद सम्भव हो सके। अभी और प्रकाश चाहिए। यही सोचते हुए कवि ने करवट ली। आँखें खुल गयीं। उसे लगा कमरे में प्रकाश कम है। उसने सेवक को कहा, "खिड़की खोलो, प्रकाश आने दो।" सेवक खिड़की खोलकर समीप आ खड़ा हुआ। तब तक कवि की साँसें हार गयी थी। गले में घरघराहट की ध्वनि सुनकर सेवक एटली को बुला लाया। वह एक मिनट बाद आयी। तब तक कवि के प्राण पखेरू नश्वर शरीर को छोड़कर प्रकाश की ओर उड़ गये थे।

(प्रकाशन वर्ष : 1940)

था। भोगकर भी जब तृप्ति न मिली तो कवि रोम गया। उस विलासमय प्रदेश में उसने प्रेम को खूब जी भर पाया, भोगा। इटली के शिल्पियों ने संगमरमर में जो स्त्री मूर्तियाँ गढ़ी थी, कवि को ऐसा लगा मानो वही सजीव होकर उसके आसपास से गुजरी हों। उसने उन्हें देखा, छुआ और पकड़ा। उस मूर्ति में सारा सौन्दर्य साक्षात् दिखाई दिया। इसके अतिरिक्त उसमें कुछ और भी देखा था। एक दूसरा सौन्दर्य। यह सिर किसका हो सकता है? तुम कौन हो? कौन? हैलेन। प्यारिस की प्रेयसी। त्रिलोक सुन्दरी। ओह, तुम केवल स्त्री ही नहीं पुरुष भी हो? तुम कौन हो? कौन? कौन?

वह स्त्री का रूप है या पुरुष का—कवि के मन में सन्देह था। यह किसका सौन्दर्य था, कुछ याद नहीं आया। वह अपलक निहारे जा रहा था। उस मूर्ति से वहीं ठहरने की उसने प्रार्थना की। वह भी स्थिर थी। कवि को उसे देखते रहने में तृप्ति मिली। उसे न चूमने की इच्छा हुई, न पकड़ने की। एक इन्द्रिय का स्पर्श कर उस सौन्दर्य ने सभी इन्द्रियों की इच्छा को लुप्त कर दिया। देखना भर ही काफ़ी था। और कुछ भी नहीं चाहिए था। लगातार देखते हुए कवि को ऐसा लगा कि वह मूर्ति पहले कहीं देखी हुई थी। यह तो पहले स्वप्न में देखा हुआ सौन्दर्य है। और जो अदृश्य हो गया था वही सौन्दर्य उसने जीवन में चुना था। जो दिखा वह थोड़ा था, न दिख पाया वह बहुत था। अतृप्ति बनी ही रही। यदि एक इन्द्रिय तृप्त हो जाय तो क्या दूसरी तृप्त न होगी? अधपेट भोजन करने वाले की भाँति वह भूखा ही उठ बैठा था। राग का आदि सुनकर उसके असली स्वरूप को जानने के लिए और स्वरूप न पा सकने पर अन्त में उस स्वर को सरल बनाकर बजाने वाले गायक की भाँति कवि ने पहले कभी देखे उस रूप को फिर से देखा। ओह, तुम हो! अच्छा! अच्छा!—अर्धमूर्च्छा में ही वह बड़बड़ाया।

पुत्रवधू फिर से आयी। अर्धमूर्च्छा का प्रभाव कम होने से कवि ने आँखें खोलीं। सामने खड़ी चिन्तित तरुणी को देखकर थोड़ा हँसा। एटली भी धीरे से हँसी। वह सोच रही थी कि ससुर जाने बचेंगे या चल देंगे। अपने पति से उसे सुख या मान नहीं मिला था। परन्तु इस ससुर ने सांत्वना से, बातों से और दया की दृष्टि से इसके जीवन को जीने योग्य बनाया था। जब एटली बच्ची ही थी तब उसे गोद में खिलाया था। मित्र की पुत्री और सुन्दरी होने के कारण उसका अपने बेटे से ब्याह किया था। बेटे के दुर्व्यवहार से उसका जीवन बड़ा कटु बन गया था। उसका लक्ष्य अपनी बहू के प्रति वात्सल्य दिखाकर उसके जीवन की कटुता को दूर करना था। सामने खड़ी चिन्ता को हँसी से टालने का प्रयास करने वाली उस बहू को देखकर कवि का हृदय द्रवित हो उठा। आज वह फिर से बेटी बन गयी थी। एटली बहू बनने से पहले बेटी थी

ही तरह तो थी। वह इतनी सुन्दरी तो न थी पर तमाम सुन्दरियों से कम भी न थी। करुणा की आँखों से देखने वाले कवि को वह विशेष सुन्दरी न होने पर भी पुत्री के रूप में सुन्दर ही लगी। उसके सुन्दर पुत्री के रूप ने उसके मन को मोहा था। वह हँसते हुए बोला, "मुझे हाथ पर चुम्बन दो।" एटली ने हाथ बढ़ाया। कवि ने उसके हाथ को सहलाकर होंठों पर रखकर स्नेह से चुम्बन लिया। इतने में ही वह थक गया। आँखें मूँदकर फिर अर्धमूच्छित हो गया।

फिर वही मुख। नहीं वह एटली का मुख है। न, वह तो उसकी बेटी है—वह का मुख है—नहीं—वही मुख है।

उसने सुख की खोज की थी। थोड़ा-बहुत मिला भी। इच्छा को काबू में रखकर नीति के मार्ग पर चला था। तब उसे ऐसा नहीं लगा था कि उसे सुख मिलेगा पर बाद में सुख से दस गुनी अधिक तृप्ति उसे मिली थी। सुख तृप्ति है, तृप्ति-सुख को क्या आदमी अनुभव में ढूंढ सकता है ? जिसे छोड़ना है क्या उसे ही ढूंढना है ? कौन-सा अच्छा है—त्याग या भोग, संयम या इच्छा ? हृदय की प्रेरणा से प्रेयसी रखनी चाहिए, या नीति मानकर एक पत्नीव्रती होना अच्छा है।

कवि इसी बात को मन में दोहराते हुए थोड़ी देर तक सोचता रहा। बहुत सोच-सोचकर मन थक गया था। क्या ठीक है, क्या गलत, यही प्रश्न मन में बार-बार चक्कर लगा रहा था। 'क्या ठीक है।' मानव के पास के अब तक के ज्ञान के बराबर ही आधार पर कह पाना कठिन है। कुछ और प्रकाश हो तो कहना शायद सम्भव हो सके। अभी और प्रकाश चाहिए। यही सोचते हुए कवि ने करवट ली। आँखें खुल गयी। उसे लगा कमरे में प्रकाश कम है। उसने सेवक को कहा, "खिड़की खोलो, प्रकाश आने दो।" सेवक खिड़की खोलकर समीप आ खड़ा हुआ। तब तक कवि की साँसें हार गयी थी। गले में घरघराहट की ध्वनि सुनकर सेवक एटली को बुला लाया। वह एक मिनट बाद आयी। तब तक कवि के प्राण पखेरू नश्वर शरीर को छोड़कर प्रकाश की ओर उड़ गये थे।

(प्रकाशन वर्ष : 1940)

कहानी कही गौतमी ने

रानी शकुन्तला बेटे भरत के साथ अपने धर्मपिता के आश्रम में आज ही आयी थी। उसने और उसकी सहेलियों ने सारी रात बातें करने में ही बिताई। सहेली की आने की खुशी में अनुसूया और प्रियंवदा अपने घर के कामकाज की चिन्ता छोड़, बच्चों को सुलाने का काम अपने-अपने पतियों को सौंपकर, शकुन्तला के पास बैठ गयी। इनकी नानी गौतमी इधर इनका ध्यान रखते हुए तथा उधर आश्रम के अन्य कामकाज को देखते हुए अपनी उम्र के हिसाब से अधिक फुर्ती से खुशी से आ-जा रही थी। उसने सन्ध्या के सारे काम निबटा दिये। अन्य सभी के विश्राम के लिए जाने के बाद वह आँगन में जहाँ लड़कियाँ बैठी थीं वहाँ आयी और उनकी बातों में शामिल हो गयी।

प्रियंवदा नानी का मजाक़ बनाते हुए शकुन्तला से बोली, "शकुन्तला, आज तुम्हारे आने से नानी ने एक महीने की दौड़-धूप एक ही दिन में कर दी है। तुम्हारे आने तक यह बुढ़िया थी, आज तुम्हें देखते ही जवान हो गयी है।"

अनुसूया बोली, "नानी को बुढ़िया कौन कह सकता है? आज ही नहीं सदा ही यह हम जवानों की अपेक्षा अधिक चुस्ती से काम करती रही है। आज खुशी में कुछ ज्यादा फुर्ती है, बस।"

वृद्धा हँसते हुए बोली, "तुम दोनों चालाक हो। प्यारी-प्यारी बातें करके मुझे फुसलाकर अपना काम मुझ पर छोड़कर रानी के साथ आकर बैठ गयी हो। अब मैं

जवान न बनूँ तो काम कैसे चले !"

प्रियंवदा बोली, "जो भी हो, मैंने और अनुसूया ने बुढापे को जवान बनाने की एक दवाई खोज निकाली है ।"

वृद्धा बोली, "वह तो ठीक है, पर तुम लोग जो सोच रहे हो यह वह दवाई नही है ।"

इसी प्रकार बातों-बातो में एक पुराना प्रसंग उठा कि अनुसूया को शादी करने के लिए गौतमी को मनाना क्यों पडा । लड़कियों की शादी के लिए बुढिया ने इतना हठ क्यों किया ? दुष्यन्त को देखकर जिस प्रकार शकुन्तला का पाँव फिसल गया, उसी प्रकार क्या इन लड़कियों के साथ भी हो सकता था ? शकुन्तला तो अप्सरा की बेटी थी । वह तो एक राजपुत्र को वरण कर सकती थी । अनुसूया और प्रियंवदा तो तापस तरुणियाँ थी । उनकी दृष्टि दुनिया की ओर विशेष न थी । इसलिए इस भय का कोई कारण न था कि शकुन्तला में जो मनोविकार उत्पन्न हुआ वह इन लड़कियों मे भी हो सकता है । इसी प्रकार की बातें चल पड़ी । तापसी ने इसका विरोध करते हुए कहा, "तुम अभी बच्चियाँ हो, तुम्हे ये बातें समझ मे नहीं आ सकती । ब्रह्मचर्य-अवस्था में रहने वालों में भी शकुन्तला के समान मनोविकार उत्पन्न हो सकता है । मैं अपने बचपन की एक सहेली के अनुभव जानती हूँ । सुनो, वह तुम्हे सुनाती हूँ । उसे सुनने के बाद, तुम्हारे बारे में मुझे जो डर था उसे तुम ठीक ही कहोगी ।"

तीनों सहेलियाँ कहानी सुनने की आशा से नानी के आसपास बैठ गयी । वृद्धा ने यह कहानी सुनाई ।



वह लड़की आश्रम में इसी वन प्रदेश के एक गाँव से आयी थी । तुम सब बच्चों के समान ही वह भी यहाँ बढी । माँ के गुजर जाने से जो बच्चे पिता के लिए भार हो जाते हैं, पिता को खो चुके जिन बच्चो को दुनिया नही चाहती, घर के लोगो द्वारा धर्म की सेवा के लिए भिजवाये जाने वाले अथवा अपने आप इस आशा से आने वाले बच्चे कि घर से आश्रम अच्छा रहा है, यहाँ इकट्ठे हो जाते हैं । वह लडकी भी ऐसे ही यहाँ आयी थी । आश्रम के दस बच्चों के साथ-साथ वह भी बढ़ने लगी । उसका नाम मालिनी था । हमारी नदी का ही नाम उसका नाम था ।

जब वह आयी तब आठ-दस वर्ष की रही होगी । ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे त्यों-त्यों मालिनी का शरीर भरने लगा और वह बड़ी होने लगी । तब आश्रम मे समवयस्क दूसरी लड़कियाँ न थी । बाकी लड़कियाँ उससे या तो चार वर्ष छोटी थीं अथवा चार-पाँच वर्ष बड़ी थी । इसलिए आरम्भ से ही वह विशेषकर लड़कों

अकेली ही जाकर नदी में गिर गयी। तैरना जानने वालों का मरना आसान नहीं। पानी उसे कुछ दूर बहा ले गया तभी फूल-पत्तियों के संचय के लिए किनारे पर घूमता हुआ दत्त किसी को पानी में बहता हुआ देख, पानी में कूद पड़ा और उसे बाहर ले आया। लड़की को होश आया। उसने दत्त को देखकर कहा, "तुमने मुझे मरने क्यों नहीं दिया ?"

दत्त बोला, "उसके लिए विधि की इच्छा नहीं है।"

तरुणी जिस जीवन से उदासीन हो गयी थी उसी को फिर चलाने लगी।



दिन बीते, मास बीते, इसी तरह दो-तीन वर्ष बीत गये। तरुणी के दुख का उद्वेग कम हुआ, एक प्रकार की शान्ति उत्पन्न हुई। मालिनी आश्रम के दूसरे लोगों के साथ मिलकर रहने लगी। दत्त के साथ सहज स्वाभाविक व्यवहार करती।

दत्त की तपस्या भी बढ़ने लगी। कुलपति उसे बड़े प्यार से देखते। आश्रमवासी उसे भविष्य का कुलपति समझकर विशेष गौरव से देखते।

तभी वसन्त ऋतु आयी। वासन्ती बयार के आदेश पर श्वेत नव मल्लिका लता खिल उठी। तरुणी मालिनी के मन में भी कुछ होने लगा। पर वह स्वयं समझ नहीं पायी कि उसका मन क्या चाहता है। एक दिन उसने देखा कि उसका मन बिना किसी कारण के दत्त के पास जाना चाहता है। उसने सोचा, 'ऐसी इच्छा मेरे अन्दर क्यों ?'

उसने अपनी इच्छा को रोक लिया और मन को दूसरी ओर मोड़ लिया। उसने मोड़ा तो ठीक, पर मन नहीं मुड़ा। इच्छा का स्वरूप समझ आने के बाद वह उस पर नियंत्रण करने लगी। पाँच दिन संघर्ष करने के बाद अन्त में वह हार गयी। भारद्वाज को मेरा पति बनना था, वह सम्भव नहीं हो सका। अब दत्त क्यों न पति बने ? बन सकता है, बनना चाहिए।

जो मरना चाहती थी उसे वह बचा लाया था। जिसने बचाया था, क्या उसे वह पालेगा नहीं ?

कुछ दिनों के बाद वह दत्त को अकेले देखकर उसके पास गयी। दत्त ने उसकी ओर मुड़कर कहा, "क्यों बहिन ?"

उसकी ध्वनि में कुछ विस्मय की भावना थी।

मालिनी ने विशेष संकोच न करते हुए उससे अपने साथ विवाह करने की प्रार्थना की। दत्त बोला, "बहिन, यह बात न उठाओ।"

फिर आपस में इस प्रकार बातें हुईं—

मालिनी ने कहा, "कुछ वर्ष पूर्व जब हम साथ-साथ रहते थे, तब यदि गुरुजी

भारद्वाज की बजाय तुम्हें मुझसे विवाह करने की आज्ञा देते तो क्या तुम तैयार न होते ?"

दत्त बोला, "शायद कर लेता या जैसा भाई कहता वैसा मान लेता, परन्तु अब वह प्रश्न कैसे उठ सकता है ? तुम मेरे लिए भाभी हो गयी। मैं तुम्हें भाभी समझकर बडा हुआ हूँ। अब मैं भाभी को पत्नी के रूप में स्वीकार नही कर सकता।"

लडकी ने पूछा, "यह भाई-बहिन की बात केवल कल्पना-मात्र नही है ?"

दत्त बोला, "हाँ, कल्पना है, पर वह कल्पना जीवन का स्पर्श कर चुकी थी, अब उसे कैसे मिटाया जा सकता है ? मैं तुम्हे जब भी देखता हूँ तब तुम्हारे साथ भारद्वाज दिखाई देता है। भारद्वाज केवल कल्पना ही नही था। मैने सोच लिया था कि भारद्वाज तुम्हारे साथ विवाह करेगा और मैं ब्रह्मचर्य के जीवन को अपनाकर सिद्धि प्राप्त करूँगा। यही विधि की इच्छा थी। विधि ने तभी सूचित किया था कि गृहस्थाश्रम नही चाहिए। उसकी आज्ञा का मुझे भी पालना करना चाहिए। उसे पूरा करने के लिए भाभी मालिनी को मेरा सहायक बनना चाहिए।"

उसने पूछा, "विवाह करने वालों में से एक को हटाकर दूसरे से विवाह करो, क्या यह विधि का विधान नही था ?"

तब दत्त बोला, "विधि को क्या कहना है यह बताना बड़ा कठिन है। ऐसा सोचना हमारे लिए बहुत आसान है कि विधि वही कहती है जो हम चाहते हैं। परन्तु कौन-सी बात ठीक है ? यह सोचकर हमें यही मानना चाहिए कि वही विधि का दिखाया हुआ रास्ता है।"

"तो विधि मेरे लिए क्या कहती है ?"

"जिस प्रकार तब विधि ने कहा था कि मेरे लिए विवाह नही है, उसी प्रकार विधि यह भी कहती है कि तुम्हारे लिए गृहस्थाश्रम नही है। जिस दिन भाई भारद्वाज गुजर गये उसी दिन विधि ने तुम्हे इसकी सूचना दे दी थी। मैं समझता हूँ कि अब तक तुम विधि की उस बात को समझ गयी हो।"

"तो मन में यह आशा क्या उसी विधि ने नही उत्पन्न की ?"

"इस प्रकार की आशा को आचार्य ने साँप कहा है। साँप शरीर में घुसकर उसे विषाक्त कर दे इससे पहले ही चेत जाना चाहिए।"

"साँप और चूहे को एक ही टोकरी में बन्द करके क्या दैव होशियारी से रहने को कहता है ?"

दत्त आगे नही बोला। मालिनी ने भी बात वहीं रोक दी। उसने को वैराग्य की ओर मोड़ा।

●

वर्ष बीत गया। बसन्त फिर आया। फिर वन में कोयल की कूक सुनाई दी। सहकार में पत्ते निकल आये। मल्लिका लता में फूल खिल उठे। तरुण के मन में फिर आशा अंकुरित हुई।

जिस प्रकार पेड़ में कोंपलें फूटती हैं, लता में फूल खिलते हैं, उसी प्रकार मन में भी आशा का जागृत होना एक अनिवार्य और सहज व्यापार होता है। जो पेड़ सूखा नहीं है, उसमें कोंपल आना एक स्वाभाविक बात होती है। बढ़ने वाली लता में फूल खिलना भी एक स्वाभाविक बात होती है। तरुण जीवन में आकांक्षा का जागना भी स्वाभाविक है। मालिनी के हृदय में भी प्रणय की अनुभूति जागी।

लोग एक-दूसरे से अपेक्षा करते हैं कि दूसरा आकांक्षाहीन होकर रहेगा। लोग मालिनी के बारे में पूछते हैं कि इसके मन में यह आकांक्षा क्यों जागी? पर तब वे यह नहीं सोचते कि उनके अपने मन में आकांक्षा क्यों उत्पन्न हुई। मनुष्य अपने आप किसी चीज़ की आकांक्षा नहीं करता। वह अपने आप जागृत होती है। जब नदी का पानी फल-फूल और कूड़े-करकट को बहाकर ले जाता है तो क्या वे फल-फूल यह सोचते हैं कि हम कहीं जा रहे हैं या इसमें उनकी इच्छा काम करती है कि जहाँ वे चाहते हैं वहीं जाएँगे? जीवन के प्रवाह में मनुष्य अधिकतर उस नदी के प्रवाह में फँसे फल-फूल और घास-फूस के समान ही सत्वहीन है। हज़ारों में एक-दो कुत्ते और गीदड़ के समान प्राणी होते हैं। जीवित होने पर भी, नदी के बहाव में फँसकर, पार नहीं हो सकते हैं। भारद्वाज से बढ़कर सत्व वाला कोई था? क्या उसे नदी निगल गयी। आकांक्षा रूपी नदी द्वारा न निगला जाने वाला कोई जीव है? उसकी बाढ़ आदमी को देखकर नहीं आती। रोकने वालों के मन से बहुत आकांक्षाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। जो अपने को रोक नहीं पाते उन्हीं को ढूँढ़कर बहा ले जाती है। बड़ा-सा पेड़ एक बार किसी प्रकार किनारे लग जाता है, बाकी सभी घास-फूस की तरह नदी के बीच मंझधार में बह जाते हैं। उस समय आकांक्षा की नदी मालिनी को उखाड़कर ले गयी और उसने निर्दय होकर उसे डुबो दिया।

मालिनी ने किसी भी प्रकार से दत्त को प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। एक दिन उसके पास जाकर बोली, "मैं फिर तुमसे भिक्षा माँगने के लिए आयी हूँ।"

दत्त ने उसे अनेक प्रकार से समझाकर कहा कि उसका विवाह सम्भव नहीं। मालिनी और क्या कह सकती थी! ज़बान पर आयी बात को रोक लिया और चुपचाप वहाँ से चली गयी।

दूसरे दिन वसन्त पूर्णिमा थी। आश्रम में उस दिन त्यौहार था। उत्सव के बाद सभी इधर-उधर सो गये। दत्त एकान्त स्थल में ध्यान के लिए बैठ गया।

मालिनी अपने कुटीर में लेटी पर उसे नींद नहीं आयी। मैंने पहले ही कहा कि उसे चाँदनी बड़ी प्यारी लगती थी। चाँदनी देखने के लिए वह बाहर आयी। आश्रम के परिवेश में पागलों जैसी घूमती रही। बाद में अनजाने ही वह वहाँ चली गयी जहाँ दत्त ध्यान करने के लिए बैठा था।

दत्त ध्यान समाप्त करके लेट गया था। पहने वस्त्रों के ऊपर उसने एक उत्तरीय भी ओढ़ रखा था जिसके कुछ भागों पर चाँदनी चमक रही थी। उसका चेहरा उसके स्वभाव के अनुसार अकुटिल प्रशान्त स्मित से चमक रहा था। मालिनी को यह बोध नहीं था कि वह दत्त है। उसे पागलपन में भ्रान्ति हुई कि सामने भारद्वाज ही है। वह उसके सिर के पास बैठ गयी। अपने दायें हाथ से उसके गाल को छूकर, ठुड्डी को पकड़कर, मालिनी ने उस पर प्यार भरा हाथ फेरा।

दत्त की नींद खुल गयी। उसने तरुणी को देखा। अविलम्ब झटके से वह उठ बैठा और पूछा, "बहिन, इतनी देर गये इस समय क्यों आयी हो? नींद नहीं आयी?"

'इतनी देर गये क्यों आयी' कहने के स्थान पर वह यह भी कह सकता था कि 'पागल क्यों बन रही हो?' पर उसका स्वभाव अत्यन्त गम्भीर था। वह बहुत लिहाज़ करने वाला था। गलती करने वालों को भी वह इस ध्वनि में नहीं कहता था कि तुम गलती पर हो। जान-बूझकर ही नहीं, वह अनजाने भी किसी को बुरा नहीं कहता था। यदि कोई उसके सामने किसी प्रकार की गलती करता और उस गलती से शर्म करता तो वह लिहाज़ में उसकी ओर आँख उठाकर नहीं देखता था।

मालिनी ने कहा, "हाँ, मुझे नींद नहीं आयी, तुम्हारे पास आने की इच्छा हुई, इसलिए आयी।"

वह बोला, "अच्छी बात है बहिन, चाँदनी बहुत अच्छी है ना! मैं भी कुछ देर तक चाँदनी में नदी का बहाव देखता बैठा रहा। रात बड़ी शान्त है।"

मालिनी ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। किन्तु एक क्षण बाद बोली, "अब तुम मेरी बात का कोई जवाब दो।"

"किस बात का?"

"मैंने जो बात तुमसे पूछी थी।"

"मैंने तभी कह दिया था।"

"क्या?"

"मुझे विवाह नहीं चाहिए।"

"विवाह भले ही न सही, साथ रहेंगे।"

दत्त इस बात के लिए तैयार न था। वह इस चोट को खाकर कुछ विचलित सा हुआ। उस पर काबू पाने के लिए एक क्षण की आवश्यकता पड़ी। एक क्षण बाद बोला, "उसके लिए बाधा क्या है ! अब भी तो साथ ही हैं।"

मालिनी बोली, "ऐसा बहाना मत करो कि तुम मेरी बात को समझते नहीं हो। यदि तुम समझते हो तो उसको मैं अपना अपमान नहीं समझती, संकोच होता तो मैं आती ही क्यों ?'

"विवाह के बिना ब्रह्मचारी के लिए तुम जो रास्ता दिखा रही हो, क्या वह कोई रास्ता है बहिन ?"

"आग लगाओ तुम अपनी बहिन को। मैं कुछ कहती हूँ और तुम कुछ और ही कहते हो ! मेरे लिए जीना बड़ा कठिन है। एक बार तुम मुझे अपना बना लो। एक ही बार; दोबारा नहीं चाहिए। यदि यह नहीं हो सकता तो मैं नदी में जाकर डूब जाऊँगी।'

"क्या यह बात समझ में नहीं आयी कि विधि ने गत वर्ष ही मना किया था ?"

"विधि ने या तुमने ? पानी में डूबकर मरने वालों को तुमने बचाया क्यों ? इस प्रकार छला क्यों रहे हो ? उस दिन मेरा मरना ठीक था, आज बचाकर भी मुझे तुम मार रहे हो।"

"बहिन, नाश करना मेरे हाथ में नहीं है, बचाना भी मेरी शक्ति में नहीं। जीवन को चलाने वाली सत्ता दूसरी ही है, यह मत भूलो। उम्र कम होने पर भी तुममें योग्यता कम नहीं है, इस बात को समझो। तुम बड़ी हो, छोटे को सही रास्ता दिखाओ।"

मालिनी कुछ क्षण तक चुप रही फिर एकदम से दत्त के मुख को अपनी छाती की ओर खींचने के लिए उसने हाथ बढ़ाया।

उतने ही वेग से दत्त हटा। जमीन पर झुककर उसने उसके दोनों पाँव हाथों में पकड़ लिये और बोला, "तुम मेरी रक्षा करो, परीक्षा न लो। तुम स्त्री हो, आदि शक्ति हो; तुम्हारे लिए पतन जैसी कोई चीज नहीं। मैं स्त्री नहीं हूँ, मेरे पास तुम्हारी जैसी आत्मशक्ति नहीं है। यदि तुम अनुगृहीत करो तो मैं बच जाऊँगा। यदि तुमने हठ किया तो मैं कहीं का नहीं रहूँगा। मुझ पर अनुग्रह करो, मेरी रक्षा करो।" इस प्रकार दीनता से उसने प्रार्थना की।

मालिनी का भाग्य अच्छा था। दत्त की ध्वनि में से जो गिड़गिड़ाहट निकली उसने उसके हृदय के किसी तार को छू लिया। अनजाने में ही उसकी दृष्टि से एक पर्दा हट गया। जिस दत्त को उसने अपनी आकांक्षा को पूरा करने वाला व्यक्ति समझा था वही उसे अपने सामने एक ऐसा बालक सा लगा जो

केवल उसीकी सहायता से जी सकता है। पुरुष मानकर जिसे आलिंगन में लेने के लिए उसकी बाँहें तैयार थी वे ही उसे बच्चा मानकर सांत्वना देने के लिए तैयार हो गयी। उसने उसे समीप खीच लिया। बच्चे के समान उसके बालो मे हाथ फेरा, हाथ से गाल और पीठ थपथपाई। सिर को जरा ऊँचा करके मुँह का एक चुम्बन लिया। बाद मे वह उठ खड़ी हुई।

दत्त भी जमीन से उठकर उसके सामने खड़ा हो गया। मालिनी बोली, "तुम्हारी बात ही ठीक है। अब मैं चलती हूँ।" बाद मे उसके उत्तर की प्रतीक्षा न करते हुए स्थिर मन से अपनी कुटी में चली गयी।

●

बडों के अनुग्रह और दत्त की तपस्या की महिमा ने उसे फिर से आशा की भँवर में फँसने से बचा लिया। दत्त की तपस्या खूब बढी। कुलपति उसे बडे गौरव से देखते थे, क्योकि उसी को बाद मे कुलपति बनना था। मालिनी भी उसके साथ बहिन या माँ के समान ही रही। उसने उसके गौरव को भी अपना ही गौरव समझा। दत्त भी बडा हुआ, उसने मालिनी को भी बचा लिया।

दत्त के महान् होने से ही मालिनी बची। यदि वह महान् न होता तो मालिनी की क्या गति होती और उसकी भी क्या दशा होती! दत्त की स्थिरता से ही दोनों धर्म के मार्ग पर रहे और धर्म की नदी को पार किया। जब भी मैं इस विषय पर सोचती हूँ, मुझे ऐसा लगता है कि दत्त जैसे स्थिर मन वाले व्यक्ति बहुत कम होते है।

दत्त की तपस्या के समान ही मालिनी का पुण्य भी बहुत महान् था। यदि उसका उतना पुण्य न होता तो उस आशा की भँवर मे उसकी क्या स्थिति होती! इसलिए मैं कहती हूँ कि ज्यादा उम्र होने से पहले ही लडकियों का विवाह हो जाना चाहिए। सभी मालिनियाँ नही होती। सब मे उसके समान विवाह की इच्छा नही उत्पन्न होती। इच्छा उत्पन्न होने के बाद वह रुकती भी नही। आशा उत्पन्न होने के बाद अकेले भटकने की स्थिति भी नही आती। परन्तु उम्र उम्र होती है। बचपन मे तपस्या मे ही मन लगाकर चलने वालो की बात कुछ और है। विवाह की इच्छा वाली लडकी को ठीक समय पर साथी मिल जाना चाहिए। न मिलने पर ही शकुन्तला (बेटी, मेरी बात का बुरा मत मानना) राजा को देखते ही अपना मन हार बैठी। तुम दोनो ने भी उसकी मदद की। मैंने उसे पाला-पोसा था। परन्तु मुझको बाहर की समझकर उस बाहर से आने वाले पर विश्वास किया। इसलिए मैंने कह दिया कि जब तक तुम दोनो की शादी नही होती तब तक मेरे चित्त को शान्ति नहीं मिल सकती।

तापसी ने कहानी समाप्त की। सहेलियों ने कुछ निमिष तक कोई बात नहीं की। बाद में प्रियवदा ने कहा, "नानीजी, आपने जो कहा वह सच्ची घटना जैसी नहीं, एक कहानी के समान है। यदि सच्ची घटना होती तो आपको ये सब बातें मालूम कैसे होतीं ?"

अनुसूया ने हँसकर शकुन्तला की ओर देखकर कहा, "यह कहानी नहीं, सच्ची घटना है। नानी ही उसकी सारी बातें जानती हैं। है न शकुन्तला ?"

शकुन्तला ने 'हाँ' कहकर सिर हिलाया। तब प्रियंवदा ने पूछा, "यह क्या बात है। तुम दोनों को तो मालूम है, मुझे मालूम नहीं।"

अनुसूया : "यदि नानीजी अनुमति दें तो मैं बता सकती हूँ।"

गौतमी : "अरे बताओ बेटी। इसमें संकोच क्या ?"

अनुसूया : "मालिनी और कोई नहीं हमारी नानी गौतमी ही है।"

गौतमी : "हाँ बेटी।"

प्रियवदा . "ओह नानीजी, आपने कितना कष्ट उठाया ! मेरा तो सारा शरीर काँपता है, आपकी ये सब बातें याद करके। तो दत्त कहाँ है नानीजी ? उसका क्या हुआ ? वह कितना बड़ा महात्मा था !"

अनुसूया : "वह भी मैं बता सकती हूँ। उसके लिए भी नानीजी की अनुमति चाहिए।"

गौतमी : "हाँ बेटी, वह तुम्हें मालूम है। बता दो, प्रियवदा को भी मालूम हो।"

अनुसूया : "हमारे कुलपति ही तो दत्त हैं।"

प्रियवदा : "हाँ। यदि आप एक क्षण चुप रहते तो मैं ही बताती। जब नानीजी बीच में बाहर गयी थी तो लौटकर आते समय ऐसा लगा कि वे आँखें पोंछकर आयी हैं। मैंने सोचा बचपन की एक सहेली के कष्ट को याद करने से आँसू आये होंगे। आप ऐसे कह रही थी मानो अपनी कहानी नहीं है। नानीजी कहीं कोई बात छुपाती हैं ? मैंने सोचा था कि यह किसी और की कहानी होगी। वर्णन सुनने में आपकी-सी लगी। पर कहने का ढंग दूसरों का-सा था। इसलिए मैं कुछ हैरान हुई थी।"

शकुन्तला : "जवानी में यदि दत्त, मेरे पिता स्थिर न होते तो, आज ऐसे रह सकते थे ! बहाकर ले जाने वाली नदी के समान वासना को बड़े धैर्य से ये जीत सके। भारद्वाज श्रेष्ठ तरुण थे। पर वह इनके बराबर नहीं थे। करोड़ों में एक मेरे पिता के समान हो सकते हैं। लाखों में एक तो हो ही नहीं सकते।"

अनुसूया : "कुलपति जी नानी को उतना गौरव क्यों देते हैं, यह बात अब मेरी समझ में आयी। नानीजी के आयु में छोटी होने पर भी कुलपतिजी इनका अपने से बड़ों जैसा सम्मान करते हैं।"

गौतमी : "हाँ बेटी । उन्होने कई बार कहा है कि उठती हुई नदी को पार करना सरल है, पर भरी हुई नदी को पार करना कठिन । आर्या गौतमी भरी हुई नदी को पार करके किनारे पहुँच गयी । यह बात नही है कि उनके मन मे आकाँक्षा नही । परन्तु वह मेरे जीवन मे जैसे आयी थीं वैसे पागल बनकर उनके जीवन में नही आयी, ऐसा उनका विचार है । पर उसकी गहराई का क्या कहे । संयमी के मन में बडी वासना का संचार होने पर भी कोई उद्वेग नही होता । पर जो सयमी नही है यदि उसमें थोडी-सी भी भावना उत्पन्न हो तो उसे कष्ट होता है । कुलपति वडे प्रभावशाली है । इसीलिए यह आश्रम इतना महान् है । राजा हमारे दामाद बने है । हमारा नाती चक्रवर्ती बनेगा ।"

शकुन्तला : "यह महानता तो है ही । यह सब पिताजी की महिमा है । वे मुझे प्रिय हैं । पर मेरे लिए इससे भी प्रिय और एक वस्तु है । वह है आपका कोमल हृदय । नानीजी, आपने जीवन में इतना दुःख देखा था इसलिए आप हमारे दुःख को देखकर दुःखी होती हैं । आश्रम के हिरण को बच्चे के समान मानती हैं । चक्रवाक को मित्र के समान बुलाती हैं ! नानीजी, आपका मन कितना महान् है ।"

गौतमी उठी : "देर हो गयी । अब जाकर सो जाऊँ," कहते-कहते शकुन्तला के गाल को छूकर उसने प्यार किया । अनुसूया और प्रियवदा के बाल को छूकर "अब देर न करो, जाकर सोओ" कहकर अपने कुटीर मे चली गयी ।

(प्रकाशन वर्ष : 1947)

वेंकट की पत्नी

इसी शिवरात्रि के दिन मैं और पुरोहित, श्रीराम को देखने के लिए शकरपुर गये। हम यह सोचकर ज़रा-सी देर से गये ताकि प्रात.काल भ्रमण करके लौटने के बाद वे घर में ही मिलें। पर जब हम उनके घर पहुँचे तब वे भी घर से निकल ही रहे थे। इसलिए हम भी उनके साथ हो लिये। कुछ दूर तक घूमने के बाद, हनुमान पहाड़ी चढ़कर परमशिवय्या के नीम के पेड़ के नीचे पहुँचे।

शिवरात्रि आ गयी थी, इसलिए सर्दी भी कम हो रही थी। हवा में ठंडक थी पर धूप बढ़ती जा रही थी। इससे चारों ओर एक नयी चेतना-सी जाग्रत हो गयी थी। हमारे सामने वाला पीपल का वृक्ष इस चेतना का साक्षी था। पता नहीं किस पुण्यात्मा ने इसे लगाया था। पर लोग भी जी भरकर उसके पत्तों को अपनी बकरियों को खिलाते थे। फिर भी उसके कुछ पत्ते बच गये थे। ठूंठ होने पर भी पेड़ में खूब कोपलें फूटी थीं। उसकी शीतलता, उसका रंग और उसके सौन्दर्य का क्या कहना! सूर्य की रश्मियाँ उस पर पड़कर उसके सौन्दर्य को द्विगुणित कर रही थीं। पिता की गोद में जैसे बच्चा हँसकर अपने दाँत दिखाता है उसी प्रकार सूर्य की रश्मि पड़ने से कोपलें गर्मी की परवाह न करते हुए बढ़ रही थीं। पेड़ की एक टहनी पर एक गिद्ध बैठा हुआ था। वह अपनी चोंच से पंख को खुजला रहा था। आकाश एकदम नीला था। पूर्व दिशा में अब अन्धेरा न था। वह मानो प्रकाश को स्थान देने के लिए आसमान छोड़कर ओझल हो गया था। दूर-दूर तक फैले इस प्रदेश

में एक पक्षी पंख फैलाए उड़ रहा था। उसकी उड़ान किसी बड पक्षी की उड़ान थी। वह या तो गिद्ध था या गरुड। उतनी दूर से पक्षी ज्यों-ज्यों समीप आने लगा, त्यों-त्यों सूर्य की रश्मियाँ उसके पंखों पर पडने लगी। तब उसका रग भी दिखाई दिया। सफेद सोने जैसे रंग वाला वह एक गरुड पक्षी होगा, मैं ऐसा सोच ही रहा था कि उस पक्षी ने अपना सिर हमारी ओर घुमाया। वह सफ़ेदी, वह लाली—उसके सौन्दर्य का क्या कहना। हमारे पूर्वजो ने भगवान् के वाहन के रूप मे इसी की कल्पना की थी तो इसमें आश्चर्य क्या? क्षेमकरी उसी प्रकार सावधानी से दूर उड़ा फिर आकर गगन में चक्कर काटने लगा। दूर से ही उसने अपने साथी को बुलाया। एक क्षण में हमारे पीपल के पेड़ पर पत्तो मे आहट-सी हुई। वहाँ से भी एक पक्षी उडा। वह गिद्ध न था। पत्तो की ओट मे बैठा एक गरुड़ था जो हमें दिखाई नही दिया था। वह पेड़ से उडकर हवा में ऊपर गया और पंख फैलाए सावधानी से नभ मे उडने लगा। दोनों गरुड़ कुछ देर तक दूर-दूर, फिर कुछ देर बाद पास-पास उडते हुए एक-दूसरे को बुला रहे थे। उन दोनों की उडानों को कुछ देर देखने के बाद श्रीराम ने हमे अपने अनुभव की एक घटना सुनाई।

●

गत वर्ष लगभग संक्रान्ति के समय मैं इधर घूमने आया। बोवन गाँव के चौराहे पर खड़े होकर नीचे के उस गाँव के सामने वाले पेड को देखने के लिए मुडा। बोवन गाँव का रास्ता वहाँ से बायीं ओर मुड़ता है। दायीं ओर उजड़ा हुआ एक छोटा गाँव है जिसका नाम अब कोई नही जानता। वह खाली पडा है। उजड़ा शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ, क्योंकि वहाँ किसी समय घर थे; अब कुछ नहो है। घर तो नही हैं पर उस उजाड मे उजड़े गाँव का लक्षण भी नही। एक कुआँ है जिसके पत्थर हिल चुके है। पास में जहाँ पहले घर बसे हुए थे उसमें पेड लगाये गये हैं। नाले की एक ओर पेयजल का एक कुआँ है और दूसरी ओर दूसरा कुआँ। बीच के खेतों से होते हुए देवालय का आधा चक्कर काटते हुए नाले मे जाकर मिलने वाली नाली है। कुएँ के पास राह-गीरों के भार उतारने के लिए एक पत्थर है। चढाई मे देखने पर एक ओर जीवन से भरा हलपुर का उजाड। उसे देखने पर मन को प्रसन्नता मिलती है। उस दिन चढ़ाई पर खड़े होकर देखने पर हलपुर बोवन गाँव से अधिक प्रफुल्लता से हँस पड़ा। मैंने सोचा ऐसा क्यो? पेड में भरे पत्तों के बीच प्रत्येक टहनी चाँदी मे मढ़ी दिखती थी। तीन दिन से मैं उस रास्ते पर नहीं गया था। तीन दिन पहले मैंने यह आकर्षण नही देखा था। इस बीच मे विकसित इन फूलों मे

हलपुर के उजाड़ में एक नयी शान्ति आ गयी थी। मैंने सोचा ओह ! कल तक कुछ नहीं था आज कितना खिल गया है। इतने में पीछे से किसी तेलुगु भाषी ने कहा, "महाराज, ज़रा यह गट्ठा उतरवाइए।"

मैंने मुड़कर देखा—पतला, लम्बा, साँवले रंग का एक तरुण था। सिर पर एक बड़ा लकड़ी का गट्ठा था। पता नहीं कितनी दूर से वह उठाकर चला आ रहा था। चेहरे पर पसीना चू रहा था। मैंने उसके बोझ के नीचे हाथ देकर "उतारो" कहा। उसने उसे अपने हाथ से उठाकर ठीक करके "बस अब छोड़िए" कहकर बोझ को नीचे रखा।

गट्ठर को नीचे उतारकर, पहनी कमीज़ के छोर से चेहरे के पसीने को पोंछते हुए वह बोला, "भार ज़्यादा हो गया महाराज, रोज़ इस बोझ को पत्थर के पास जाकर उतारता था, पर आज ऐसा नहीं कर सका। आप जैसे बड़े आदमी को कष्ट देना पड़ा।"

मैं बोला, "इसमें कष्ट किस बात का ! ऐसी कोई बात हो, पर इतने बड़े बोझ को क्यों उठाया ?"

वह बोला, "अरे महाराज, मनुष्य को लालच रहता है न ! चार लकड़ियाँ ज़्यादा हों तो पहली सड़क पर ही बिक जाती है। चार पैसे ज़्यादा मिल जाते है। ऐसा बोझा ले जाना चाहिए जिसे देखकर लकड़ी खरीदने वाले उसे पसन्द कर लें और तुरन्त खरीद लें। चार पैसे हाथ लगे।"

मैं रास्ते के पास पड़े एक पत्थर पर बैठ गया और उसे भी सामने बैठने को कहकर उसके गाँव का अता-पता और सुख-दुःख के बारे में पूछा। वह चिन्तामणि की तरफ से आया था। मुझे उससे तेलुगु भाषा में बातचीत करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

उस तरुण का नाम वेंकटरमण था। उसे आमतौर पर वेंकट के नाम से पुकारते थे। वेंकटरमण नाम कुछ लम्बा हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह बहुत सम्मान का नाम है। इससे यह लम्बा नाम जनता के मुँह से वेंकट या यंगट रूप प्राप्त कर लेता है। यंगट तिरुपति के पास के एक गाँव का लड़का था। बंगलोर में जीविका चलाने के लिए आया था।

"क्यों, तुम अपने गाँव में ही रोज़ी नहीं कमा सके ?"

"कमा सकता था मालिक, अगर कुछ भी न होता तो भी पहाड़ का सामान ढोकर जीविका चलाई जा सकती थी। उसके लिए तो कोई कमी न थी।"

"तो इतनी दूर क्यों आये ?"

"महाराज, किसी बात से दुःखी होकर कुछ दिन के लिए गाँव से दूर रहना ही अच्छा समझकर मैं इस तरफ़ आ गया।"

"इस छोटी-सी उम्र मे दुख किस बात का ? क्या तुम मुझे बता सकते हो ?"

"न बताने की क्या बात है, महाराज ? आप तो मेरे पिता के समान पूछ रहे हैं, बाल-बच्चेदार है, पर कहने से कुछ लाभ नही ।"

"कह सकते हो तो कहो, अगर हमसे कुछ हो सका तो करेंगे ।"

"क्यों नही हो सकता महाराज; पता नही ऐसी बाते आपने कितनी सुनी होंगी । आप दुनिया को जानने वाले हैं । आप तसल्ली की एक-दो बातें कहेंगे तो मेरे मन को शान्ति मिलेगी ।"

यह कहकर उसने अपनी कहानी सुनाई ।

●

वेंकट गाँव में मजदूरी करने वाला एक तरुण था । गाँव मे उसके बहुत-से रिश्तेदार थे । बुआ की बेटी, रंगी नाम की लड़की उसके साथ ही बडी हुई थी । बचपन से बुजुर्गों ने यह पक्का कर लिया था कि दोनो की शादी कर दी जाएगी । रंगी सुन्दर थी । उस जाति में वैसा रंग, वैसी आँखें बहुत कम लोगों मे देखी जाती थी । यह लड़का लम्बा था पर वह भी इसके कन्धे तक थी । वह चलती तो ऐसा लगता मानो मन्दिर में स्थापित पत्थर की प्रतिमा कही बाहर चलकर जा रही है । लडका-लड़की कई बार पहाड के ऊपर सामान ढोते हुए मजदूरी के लिए गये थे । बड़े सुख से साथ-साथ बड़े हुए ।

ठीक उम्र होने के बाद उनकी शादी कर दी गयी पर तभी उन पर एक विपत्ति टूट पड़ी । गाँव के अमीर रेड्डी (जमीदार) ने रास्ते में घूमने वाली इस लडकी को देखकर उसे कपडे-लत्ते तथा आभूषण आदि का लालच देकर फँसा लिया ।

इतनी कहानी सुनने के बाद मैंने पूछा, "तुम कह रहे हो कि एक साथ बडे हुए । तब इतनी जल्दी यह कैसे हो गया ?"

उसने कहा—"आप पूछ रहे हैं कि जल्दी कैसे हो गया ? मालिक, हमें जब मालूम पड़ा तब जल्दी लगा पर अमीर लोग कितने दिन से फुसलाते रहते हैं । क्या हमे मालूम पड जाता है ? इसके अलावा मालिक, स्त्री का मन पता नही कब किस ओर आकर्षित हो जाए, इसे कौन रोक सकता है ? आज मैं पति हूँ इसलिए पत्नी मेरी ओर देखती है । कल को एक सुन्दर व्यक्ति उसकी ओर आता है तो उसकी ओर देखने लगती है । क्या वह विशेष इच्छा से देखती है ? यदि कोई बडा आदमी तब चुप रह जाए तो ठीक है । यदि छेड़े तो ? सभी स्त्रियाँ इन्कार कर देती हैं क्या ? उसकी मूँछें, उसकी पगडी, उसकी घुड़सवारी, उसके दर्प का क्या कहना ! प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे पद की इच्छा रहती है । यदि

ऐसे पद वाला स्त्री को बुलाए तो क्या स्त्रियाँ अपने को रोक पाती हैं ? उस अनजान लडकी ने उसकी बात मान ली।"

माँ-बाप ने समझाकर कहा, "बेटी, यह ठीक नही। इससे खानदान की बदनामी होती है।" मैंने बहुत कुछ समझाया। कितनी अच्छी लडकी थी महाराज। कुलीगिरी करने के दिनों कितनी भली बात बोलती थी। मैं कही चोरी करने को कहता, तो वह कहती, "खबरदार, भगवान इसका दण्ड देते है।" बडी होने के बाद कोई लडका उससे जरा आत्मीयता से बात करता तो कहती, "क्यो, मुझे अपनी घरवाली समझ लिया ?" पता नही कैसा बुरा समय था जब वह मुझसे छिपकर उसके पास जाती थी। एक दिन उसके घर में ही चली गयी और वही रहने लगी। मेरी माँ ने उस साहूकार के घर के सामने जाकर वावेला मचाया—"अपने घर और मेरे घर को क्यों बिगाड़ दिया ?" मैं जाकर माँ को ले आया और उसको समझाया, "जो भी हो, वह घर की बहू है। चीखने-चिल्लाने से घर की इज्जत जाती है। घर मे रहती तो अच्छा था, अब यहाँ नही रही, तो हमे चुप ही रह जाना चाहिए।"

मेरी बुआ बोली, "मैंने तुम्हारा जीवन बिगाड़ दिया। हरजाना दे दे तो दूसरी लडकी से शादी कर लो।" वह मेरे लिए दूर की तो न थी। मेरे बाप की सगी छोटी बहन थी। मेरी बरबादी को कैसे देख सकती थी ? माँ के समान वह भी दुखी हुई। मैंने कह दिया—"मुझे दूसरी शादी नही करनी, बस तुम चुप रहो।"

कुछ समझ मे नही आया। तीन दिन बीत गये। उस साहूकार ने मुझे कहला भेजा, "तुम्हारी पत्नी का हरजाना मैं देता हूँ, चाहो तो तुम्हे भी चार पैसे देता हूँ, इसे तुम मेरे लिए छोड़ दो, दूसरी कर लो।"

मुझे बडा दुख हुआ और बहुत गुस्सा भी आया। उस सध्या को सबकी आँख बचाकर मैं उसके घर गया। साहूकार को कहला भेजा कि मै उससे बात करना चाहता हूँ।

मैंने साहूकार से कहा, "तुम कहते हो, पत्नी के बदले दूसरी पत्नी; यह कोई इज्जत की बात है ? तुमने गलती की है। पहाड के ऊपर का भगवान् सब देख रहा है। यदि भला चाहते हो तो मेरी पत्नी को मेरे साथ भेज दो। तुम भी ठीक रहो, मुझे भी ठीक से रहने दो। उसकी इज्जत की रक्षा करो। इसे छोडकर यदि तुम पैसे देने और दूसरी से शादी करने की बात कहोगे तो तुम कुत्ते के समान होगे जो अपने मुँह की हड्डी को छोड़ना नही चाहता। यह मत समझना कि अनजान लडकी को फुसलाकर सुख पाओगे।"

तब उसने कहा, "मैं तुम्हारे साथ ये सब बातें करने को तैयार नहीं।"

मैंने आगे कहा, "अच्छी बात है, मेरी पत्नी को सामने आकर अपने मुँह से

यह कहने दो।"

"मैं तुम्हें कुछ पैसा देता हूँ, दूसरी शादी कर लो। यदि वह यह न कहती तो मुझे क्या जरूरत थी ?"

मैंने कहा, "उसी को एक बार कहने दो।"

"वही कहेगी" कहकर दूसरे कमरे की ओर मुँह करके वह बोला, "सुनती हो ? जरा इधर आना। तुमने जो बात कहला भेजने के लिए कही थी वही बात यह तुम्हारे मुँह से सुनना चाहता है।"

मेरी पत्नी बाहर आयी। उसकी साड़ी, उसके ब्लाउज, उसके हाथों के कड़ो आदि का क्या कहना ? गरीबो के कपडो मे जितनी अच्छी थी, वह लडकी इस ऐश्वर्य में विकृत-सी लगी। उसके मुँह पर विशेष सन्तोष नही था। मैंने उससे पूछा, "साहूकार कहते हैं कि उन्होंने जो बातें मुझे कहला भेजी थी वह तुम्हारी मरजी से ही कहलाई थी। क्या यह सच है ?"

उसने मुँह से कुछ बोला। मैंने पूछा, "तुम्हारा हरजाना लेकर मैं दूसरी शादी करूँ ? क्या तुम यह चाहती हो ?"

उसने स्वीकृति व्यक्त करने वाले भाव से सिर हिलाया। तब मैं बोला, "तुमने अच्छी बात कही, पर भगवान् इसे नही मानेंगे। कितने दिन तक हम लोग एक साथ रहे ? अब इस प्रकार रहना ठीक नही है। फिर भी जब कभी तुम मेरे पास आना चाहो, निस्संकोच चली आना, मैं तब तक इन्तजार करूँगा।"

"यह कहकर मैं लौट पडा। साहूकार हँस पड़ा। उसकी हँसी मे यह भाव छिपा था कि मेरे घर में आयी स्त्री मुझे प्यार करती है, अनचाहे पति के पीछे क्यों लौटेगी। साहूकार के घर जाने की बात का किसी प्रकार माँ को पता लग गया था और वह उसके घर के बाहर मेरा इन्तज़ार कर रही थी। मेरे बाहर आते ही मेरे साथ हो ली, सारी बात को सुनकर, बोली, "तुम इस प्रकार नामर्दों की-सी बात क्यों करते हो ?"

तब मेरी सास बोली, "मूर्ख लडकी है, अपने घर को बदनाम कर दिया ! झोटा पकड़कर खीचकर क्यो नही लाया ? मर्द होकर यह क्या बात करते हो ?"

साहूकार की बड़ी पत्नी ने मेरे घर एक औरत के द्वारा कहला भेजा, "मेरा पति मेरे जीवन को दुखी बना रहा है। यदि वह दूसरी शादी कर लेता तो मैं मना न करती। शादीशुदा लड़की को लेकर अपने घर का सत्यानाश करा रहा है। वेंकट यदि अपनी पत्नी को लेकर दूर जाना चाहता हो तो मैं सारा खर्च देने को तैयार हूँ।"

"मुझे इनमे से कोई बात पसन्द नहीं आयी मालिक, मेरे दिमाग मे यही बात

थी कि मुझे अपनी पत्नी के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। दुनिया मुझे क्या कहेगी ? उसके मायके के बारे में क्या कहेगी ? साहूकार का क्या होगा ? यह सब गौण था। मैंने जिसका हाथ पकड़ा था वह दूसरे के यहाँ चली गयी, मुझे क्या करना चाहिए, गाली दूँ ? मारूँ ? जबरदस्ती करूँ ? या छोड़ दूँ ? क्या करूँ ? मैं अपने स्वभाव के अनुसार जो कर सकता था वही किया। उसने मेरा साथ छोड़ दिया, मैं विरक्त हो गया, मुझे गुस्सा नहीं आया। दूसरी औरत की भी इच्छा नहीं हुई। मैंने सोचा, आज नहीं तो कल, इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में, मुझे उसका साथी बनना चाहिए। इसलिए मैंने किसी बात पर कान नहीं दिया। दूसरे दिन उठकर इस तरफ चल पड़ा। यहाँ पेट पाल रहा हूँ। चार पैसे बच जाते है, उसे माँ को भिजवा देता हूँ। यहाँ हमारी ओर के कुछ लोग है। उनमें से एक को चार पैसे देता हूँ और वह जो देते हैं, उसे खाकर समय बिता रहा हूँ।"

●

कुएँ से झाँकने पर पाताल ही दिखाई दिया। योंही किसी के सुख-दुख पूछने पर एक दु.खान्त नाटक देखने के समान हुआ। रास्ते पर जाने वाले एक लकड़हारे का जीवन इतना दुखी हो सकता है, यह किसे मालूम था ? पेट के लिए, कपड़े के लिए, गरीबी के कारण तो कोई दुखी हो सकता है, परन्तु यह नाटकीय दु.खान्त ! जीवन के दुख को सहन करते समय साधारण आदमी इस प्रकार लकड़ी ढो सकता है और उतने ही साहस से इस चिन्ता को भी सहन कर सकता है तो क्या यह धीर नायक नहीं है ? धीर ही नहीं उदात्त भी है। मुझे वास्तव में आश्चर्य हुआ, पर ऐसे दुःखी व्यक्ति को मैं किस प्रकार तसल्ली दे सकता था ? इसके अतिरिक्त उसने जैसी बातें की, उन्हे सुनकर उसे तसल्ली देने की आवश्यकता भी दिखाई नहीं दी। परन्तु कुछ न कुछ कहे बिना रहना भी उचित नहीं था। यही सोचकर मैंने कहा, "दुःख की बात है, छोटी-सी आयु में ही तुम्हे इतना कष्ट हुआ।"

तब उसने उत्तर दिया, "यह सब पहाड़ पर स्थित भगवान् की इच्छा है। वह जो देता है उसे भोगना चाहिए।"

तब तक रास्ते में दो आदमी आते हुए दिखाई दिये। वेंकट ने उनसे कहा, "भैया इस बोझ को जरा उठवा देना।"

उनकी सहायता से उस बोझ को फिर सिर पर लेकर, "पाँय लागूँ महाराज, अब मैं चलता हूँ" कहकर वह चल पड़ा।

मैं भी उठकर उसके साथ ही घर की ओर चलने लगा। एक क्षण बाद

थोड़ा और जान के लिए मैंने पूछा, "वेंकटय्या, तुम्हें गाँव छोड़े कितने दिन हो गये?"

वह बोला, "छः महीने हो गये, महाराज।"

इसके बाद उसी रास्ते पर महीने-पन्द्रह दिन में उससे भेंट हो जाती। किसी कारण यदि मैं उसे न देखता तो वह स्वयं पास आकर, पूछता "पाँय लागूँ महाराज। आप अच्छे तो हैं?"। एकाध बार जब वह किसी और ध्यान में रहता तो मैं ही स्वयं पूछ लेता "क्यों वेंकटय्या, लकड़ी लाने चले?" या "व्यापार अच्छा चल रहा है?" "पन्द्रह दिन से इस तरफ आये नहीं?" आदि। वह विनयपूर्ण उचित उत्तर देता। इस प्रकार हमारा परिचय बढ़ता गया।

कष्टमय जीवन में इतना असहनीय दु.ख होने पर भी वेंकट को प्रसन्न रहते देखकर कभी मैं सोचता, उसकी आत्मा उस गाँव के उजाड़ के समान अजेय है। कभी सोचता कि सारे पत्तों के झड़ जाने पर भी प्रत्येक टहनी पर फूलों से लदे उस वृक्ष के समान महान् है वह।



सामान्यतः कहानी को यहीं खत्म हो जाना चाहिए था। लेकिन कहानी इतनी ही होती तो शायद मैं आगे न कहता। वेंकट की कहानी इस वर्ष आगे बढ़ी। उसकी आगे की कहानी बताने में मुझे खुशी है।

अभी एक मास पूर्व मैंने उसे अपने नित्य के रास्ते में देखा। मैंने उससे पूछा, "क्यों वेंकटय्या, अच्छी लकड़ी मिली क्या?"

वह बोला, "मिली है महाराज। आपके आशीर्वाद से उससे भी अच्छी चीज मिली है।"

मेरी समझ में नहीं आया कि वह क्या चीज हो सकती है। कहीं उसे किसी ने यह तो नहीं कह दिया कि रोज एक गट्ठर ईंधन के लिए तीस रुपये महीना देंगे। इसमें बहुत शुभ कौन-सी बात हो सकती है? क्या उसकी पत्नी वापस आ गयी? यह नहीं हो सकता। इस प्रकार मन में अनेक विचार उठ रहे थे। इसी में मैंने उससे पूछा, "क्या बात है?"

"मैं आपसे पन्द्रह दिन पहले मिला था महाराज। उसके दूसरे दिन ही गाँव से पत्र आया। वह पत्र मेरी माँ ने लिखवाया था। वह साहूकार किसी अन्य औरत को उठा लाया। उसके घर में खूब वावेला मचा। उसकी पत्नियों ने कहा कि 'हम लोग घर छोड़कर चली जाएँगी।' इस लड़की को भी बहुत बुरा लगा। अपने को कहा, 'मैं तुम्हारे साथ नहीं रहूँगी।' तब वह बोला, 'तूने इसने भी सात भाँवरों वाली समझ लिया है? अच्छे खाने पर लार टपकाते एक कुत्ते की तरह तू यहाँ आयी। तुझे इतनी अकड़!' वह बोली, 'देवता जैसे पति

को छोड़कर मे तुम्हारे साथ आयी। मेरी अक्ल पर ही परदा पड गया था। तब फुसलाकर तुमने मेरा दिमाग खराब कर दिया था और मुझे घर मे डाल लिया। आज तुमने खरी-खोटी सुनाकर मेरी आँखे खोल दी। तुम मेरे पिता के समान हो गये हो।'

"इतना कहकर उसके गहने-कपडे वही छोडकर उसकी पत्नियों के पाँव पकड़े मैंने आप लोगो की शैय्या खराब की, मेरा कसूर माफ कर देना कहकर वह लौट आयी।" हमारे घर आकर माँ से बोली, "आपका कहा काम करूँगी और आपका दिया खाकर पडी रहूँगी।" माँ सोच ही रही थी कि क्या करें तभी उस लडकी की माँ आकर बोली, "जब मन आया तो चली गयी अब बुरे दिन आये तो लौट आयी। तुझे खाना देने वाला तेरा घरवाला यहाँ नही। वह जहाँ है वही चली जा।" यह कहकर उसे निष्ठुरतापूर्वक डाँटा भी। चिट्ठी से ख़बर मिली कि कल वह बगलोर आ रही है। मैं समझ न पाया—मुझे इससे सुख हुआ या दु:ख। कल मैं लकड़ी काटने नही गया, झोपडी मे ही पड़ा रहा। उसकी हिम्मत देखे महाराज! बच्चे को गोद मे लेकर वहाँ से अकेली आ गयी। मैं अपने घर के सामने बैठा था। क्या उसे ठीक मेरे पास ही पहुँचना था! उस गली मे मेरा नाम पूछकर मैं जिस बरामदे में बैठा था वही आ गयी। उसे यह ख्याल न था कि मैं उसे सामने ही मिल जाऊँगा। उसनेमुझे देखा। क्षणभर को चेहरे का रंग उड गया। दूसरे ही क्षण आकर बच्चे को मेरे पाँवों मे डालकर, धरती पर माथा टेककर रोने लगी, "मेरे भगवान्, अब फिर से मिल गये हो। चाहो तो रखो, चाहो तो मार डालो।" मैंने बच्चे को उठा लिया और बोला, "बच्चे को ऐसे सताते हैं! उठो!" मैंने अपने पडोस की औरतों को बुलाकर कहा, "मेरी पत्नी आयी है। अलग घर बनाने तक ज़रा जगह दो।" उस दिन और अगले दिन वहाँ रहकर तीसरे दिन हमने आधी झोंपड़ी किराए पर ले ली। जब से आपके पवित्र हाथो ने मेरा बोझ छू लिया, तब से मेरा जीवन सूखे पेड मे कोपल फूटने के समान हो गया।"

मैंने कहा, "बडी खुशी हुई भैया। तुम्हें अपनी पत्नी से किसी तरह का गुस्सा नही है ना? मन मे एक कड़वाहट दबाकर रखना अक्लमन्दी नही होती।"

"नही तो महाराज! नासमझ लडकी है। अब भी वैसी ही है। यह कोई ज्यादा समझ वाली औरत नही।"

मुझे उसका बडप्पन देखकर आश्चर्य हुआ। मैं बोला, "बच्चे को प्यार से रखना।"

"अच्छी तरह पालूंगा महाराज। उसे शायद यह डर रहा होगा कि उसे तो रख लूंगा, पता नही बच्चे के बारे में क्या कहूँगा। जिस दिन आयी उसी दिन बच्चे को मेरे पास लाकर बोली, "उसकी नाक और भौंवों को देखो, एकदम

तुम्हारी जैसी है।' मैंने सोचा यह सब जाँच की क्या जरूरत है! मैंने 'हाँ' कह दिया। उसे तसल्ली हुई। बच्चा किसी का हो, तो क्या? वह तो बालगोपाल होता है। उसे पालने वाले भाग्यशाली होते हैं।"

मैंने पूछा, "अब बच्चा साल भर का हुआ होगा?"

वेंकट बोला, "एक साल के आसपास होगा। पूछकर क्या करता? पूछने पर वह यह सोचकर दुखी होगी कि मैंने जाँच-पड़ताल शुरू कर दी। उसे खुश रहना चाहिए महाराज। मेरा क्या?"

वेंकट की एक-एक बात से यह व्यक्त हो रहा था कि वह कितना महान् है। मैंने पूछा, "जो पैसे मिलते है उनसे काम चल जाता है?"

"बहुत हो जाता है महाराज। फिर भी चार पैसे और क़माने के लिए एक दिन छोड़कर दूसरे दिन लकड़ी के लिए वह भी साथ जाती है। मना करने पर भी सुनती नहीं। सिर पर बोझ, और बग़ल में बच्चा लेकर किसी प्रकार चलती है। खाने-पीने की चिन्ता नही है मालिक।"

●

रथसप्तमी के दिन जहाँ मैंने वेंकट को पहली बार देखा था वहीं आज भी वह दिखाई दिया। मैंने पूछा, "सब ठीक-ठाक है न?"

"बड़ों का आशीर्वाद है।" कहने के बाद वह बोला, "गाँव से कल एक पत्र आया है महाराज। उस साहूकार को किसी ने मार डाला। बेचारा फिज़ूल मे मारा गया।"

मैंने पूछा, "यह बात घर में बताई?"

उसने कहा, "पत्र का आना उसे मालूम था। उसे पढ़ाने के लिए मैं ले गया था। पढ़ाकर आया तो उसने पूछा, 'सब ठीक-ठाक है?' मेरे चेहरे को देखकर पता नही उसने क्या सोचा। उसने मेरी ओर ध्यान से देखा और पूछा, 'और क्या बात है बताओ तो?' मैं बोला, 'अब क्या पूछती हो?' वह बोली, 'तो फिर ऐसे क्यों देख रहे हो? उसे कुछ हो गया?" उससे मुझे क्या? गले पड गया था, छूट गया, अगर ढंग का जीवन बिता रहा है तो खुश रहेगा नहीं तो और दुख भोगेगा।' मैंने कहा, 'और क्या भोगेगा?' वह समझ गयी। उसने आगे कहा, 'सब क्या तुम्हारे जैसे भले ही होते हैं? रास्ते में आये साँप को कोई न कोई तो मारेगा ही।' मैं कुछ न बोला। उसकी आँखों मे आँसू भर आये। औरत जात है। शत्रु के मरने पर भी रो पड़ती है।"

ये बातें करते हम टीले पर पहुँचे। सामने हेलपुर वालों के लिए यहाँ से उतराई शुरू होती है। मैं उस तरफ़ देखने लगा। तब वेंकट बोला, "वह भी

आज मेरे साथ आयी है, महाराज। बच्चा कुछ तंग कर रहा है। उसे तसल्ली देकर बिठाने मे दिन चढ जाता है। इसके अलावा अगर यह एक दिन लकडी नही ढोएगी तो क्या हो जाएगा, यही सोचकर उसे कुएँ के पास नीम के पेड के नीचे बिठाकर आया हूँ। वह देखिए महाराज, वहाँ औरत और बच्चा दिखाई दे रहे हैं ना ! वही मेरी घरवाली और बच्चा है।"

मैंने उस ओर देखा। वे माँ-बेटे उस उजडे ग्राम मे एक नये जीवन के समान दिखाई दिये। माँ-बच्चे को चार पत्थर और फूल देकर खिला रही थी। दो क़दम आगे बढने पर वेंकट बोला, "महाराज, एक बात है।"

मैंने पूछा, "क्या है वेंकटप्पा ?"

"मैं आपको अपना भगवान् मानकर कह रहा हूँ। माँ-बेटे को आशीर्वाद दीजिए पर उसे इस बात का आभास न होने दीजिए कि आप गाँव की उस बात को जानते हैं। वह दुखी होगी।"

मैं बोला, "अजीब आदमी हो। मैं उसका जिक्र क्यों करूँगा ?"

वह बोला, "मैं जानता हूँ कि आप जिक्र नही करेंगे। फिर भी भूलकर कही मुँह से निकल न जाए इसलिए प्रार्थना की। क्षमा करना।"

हम हेलपुर के समीप पहुँचे। वेंकट की पत्नी खडी हो गयी। उसने बच्चे को हाथ से पकडकर अपने पाँव के पास खडा कर लिया। वेंकट ने उससे कहा, "हमारे महाराज हैं, मेरी देखभाल करने वाले। मैंने तुमको बताया था ना !"

वह मेरे पाँव पड़ी। उसने आकर घुटने टेककर नमस्कार किया। मैंने आशीर्वाद दिया। बाद मे बडी खुशी से उसने बच्चे को मेरे पाँव पर डाला। नया आदमी समझकर वह चीख पडा। मैं बोला, "बच्चे को रुलाओ नही। उठा लो बहिन।"

उसने उसे उठा लिया। मैने उसका सिर छूते हुए कहा, "सौ वर्ष जीओ।"

एक क्षण यह देखने को मन हुआ कि लडका वेंकट जैसा है या नही। परन्तु यह सोचकर कि जब पति ही परीक्षा नही करना चाहता तो मैं क्यो करूँ, मैं चुप हो गया। ऐसे प्रसगो को ही ध्यान मे रखकर हमारे बुजुर्गों ने कहा है—मातृमूल को देखना चाहिए।

मेरे आशीर्वाद से वेंकट और उसकी पत्नी दोनो को बडी प्रसन्नता हुई। वहाँ से हम एक साथ चले। माँ-बेटे आगे चले। मैं और वेंकट पीछे धीरे-धीरे चले। चार क़दम चलने के बाद मैंने वेंकट से पूछा, "तो, तुम लोग बगलोर मे ही रहोगे ?"

वह बोला, "यही भगवान् की मर्जी लगती है। यदि गाँव जाते तो पेट भरने के बहाने भगवान् के पहाड़ चढ़ा जा सकता था। इसकी उधर जाने की इच्छा नही है। जब इसकी मर्जी नही है तो मैं क्यो इसके विरोध में जाऊँ ? दूर

रहूँगा। भगवान् का नाम लूँगा, मेरा स्वामी हमारी रक्षा करेगा।"

●

श्रीराम ने कहानी समाप्त की। तब तक पेड पर बैठा गरुड़ उड गया था। मैंने उसके दर्शन के लिए आसमान की ओर देखा। वह दिखाई नहीं दिया। हम तीनों उठकर लौट पड़े।

(प्रकाशन वर्ष : 1947)

काक-लोक

नव वसंत का बहुत ही सुहावना सवेरा था। रात को अच्छी वर्षा होने के कारण शीतलता थी, पवन मे माधुर्य था। प्रकाश एक सुनहलापन लिये हुए था। मैं अपने कमरे में खिडकी के पास बैठा एक पुस्तक लिये, एक क्षण पुस्तक पर और दूसरे क्षण बाहर दृष्टि घुमाने मे समय बिता रहा था।

हमारे घर के पास ही चार-पाँच वृक्ष है। उनमे एक अशोक का है। उसकी एक घनी टहनी पर एक गिलहरी बैठी अपनी कर्कश ध्वनि मे बुलावा दे रही थी। गिलहरी की इस कर्कश ध्वनि से मैं काफी परिचित था, परन्तु इस सुहावने समय मे उसकी ध्वनि भी मधुर लग रही थी। वह अपने प्रेम-आमन्त्रण को सशक्त बनाने के लिए अपनी पूँछ से क्पास भरती और खाली करती हुई मुझे अपनी जगह से स्पष्ट दिखाई दे रही थी।

कुछ समय तक गिलहरी की क्रीडा निहारने के उपरान्त मैंने पुस्तक की ओर आँखे घुमाईं। तभी ठीक सामने के अशोक वृक्ष के दूसरी ओर एक चिड़िया की मधुर और महीन आवाज़ सुनाई दी। वह स्वर मैंने पहले कभी नही सुना था। स्वर बिल्कुल नया-सा लगा। उसका संगीत बडा मीठा और धीमा था। उसमे कई उतार-चढाव थे। जुगनू की-सी जगमगाहट थी। मुझे आश्चर्य हुआ। मेरी आयु पचास से ऊपर हो गयी, परन्तु अब तक इस चिडिया का स्वर मेरे कान मे नही पडा था, इस बात को मैं क्या कहूँ!

मैंने चिड़िया को देखने के लिए, जिधर से स्वर आया था, उस ओर दृष्टि फेरी। पक्षी तो दिखाई नहीं दिया, परन्तु वही स्वर फिर सुनाई दिया। यह तो समझ में आ गया कि आवाज़ किधर से आ रही है पर आँखें गडाकर देखने पर भी गायक दिखाई न दिया।

इस समय मेरी पत्नी कार्यवश कमरे मे आयी। मैंने उनसे इस पक्षी की बात कही और बताया कि उसका गाना कितना मधुर है। उन्होंने कहा, "हाँ, यह पक्षी गत वर्ष भी यहाँ आया था। इस बार फिर आया है। बडा ही छोटा-सा है और सुन्दर भी है।"

मैंने उँगली से संकेत करते हुए कहा, "उन पत्तो के बीच कही है, देखना चाहता हूँ पर दिखाई नही दे रहा है।"

पत्नी बोली, "हाँ, वह दिखाई नहीं देता। वह पत्तो के बीच पत्ता बनकर मिला रहता है।···" फिर वह मेरे पास ही खडी होकर जिस ओर मैंने इशारा किया था, उधर ध्यान से देखने लगी।

क्षणभर बाद बोलीं, "वह देखिए, बिल्कुल हमारे बायीं ओर बैठा है, उस पतली-सी टहनी पर। वह जो सफ़ेद-सफ़ेद दिखाई दे रहा है वहाँ पर।"

हाँ, वह चिड़िया वही बैठी थी, यह तो ठीक है पर मेरी दृष्टि इतनी तेज़ नही कि मैं बिना बताये ही उसे देख पाता। वास्तव मे, वह इतनी बड़ी थी भी नही कि उसे हम चिड़िया कह सकें। वह तो नाम मात्र की चिड़िया थी। सृष्टि का यह कितना विचित्र कौशल था। वह पक्षी अपने में एक स्वयं-पूर्ण प्राणी तो था परन्तु उसका सम्पूर्ण गात मेरे हाथ के अँगूठे से बड़ा न था। चारों ओर पत्ते थे और उनके बीच वह भी एक पत्ते जैसा था। बहुत ध्यान से देखने पर लगा कि मानो बिना नाम की, सुन्दर, बिना रंग की पृष्ठ-भूमि पर केसरी, स्वर्ण और नील रेखाएँ चमक रही हो।

मैंने पत्नी से पूछा, "इसका क्या नाम है?"

उत्तर मिला, "वास्तव में कोई नहीं जानता। हमने कौवे का नाम रखा, तोते का नाम रखा, कोयल और गोरैया आदि को नाम दिया, यही पक्षी-जाति के सम्बन्ध में हमारी आसक्ति की सीमा है, इससे आगे नहीं। पक्षी सुन्दर हो सकते हैं, मधुर गा सकते हैं फिर भी उनमें इतनी योग्यता नही हो पाती कि हमारा ध्यान आकर्षित कर सकें।"

बसंत के विकास के साथ उस छोटी चिड़िया का हमारे बीच में आना अधिक बढने लगा। जब वह दुबारा आयी तो अकेली न थी, नर और मादा इकट्ठे आये थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो दोनों ने इस साल इकट्ठे रहने का निश्चय किया हो। साथ ही यह भी लगा कि उन्होंने हमारे घर के आवरण को उचित स्थान समझकर अपनी गृहस्थी जमाने के लिए चुना था। उनके

निश्चय से मुझे बडी प्रसन्नता हुई।

कुछ समय बीता—मैं ठीक से नही बता सकता कितने दिन बीते होंगे। एक दिन मेरी पत्नी ने बगीचे से मुझे बुलाया, "ज़रा यहाँ आकर इस पक्षी के घोसले को तो देखिए।"

मेरी कल्पना मे चिड़िया के घोंसले का अभिप्राय था कि वह कहीं ऊँचे पर होगा। मैंने कहा, "पक्षी के घोसले में क्या है देखने को ?"

वह बोली, "आकर देखिए तो पता चले न। देखिए, इस प्राणी ने अपने बच्चो के लिए इसे कैसा सजाया है। उस दिन जो गा रहा था न—वह छोटा-सा पक्षी—उसी का घोसला है यह, दीवार के पास डालिया के पौधो मे कैसा लटका रखा है ?"

मैंने जाकर देखा—घोसला बहुत छोटा-सा था, कुल मिलाकर एक मुट्ठी के बराबर। उसका बाहर का हिस्सा पतले, पर मजबूत तन्तुओं से बुना था। दो बटे हुए डालिये के पौधो मे उसे पालने की तरह लटका रखा था उसने। अन्दर कोमल रुई की गद्दी पर दो छोटे-छोटे अण्डे थे। घोंसले के एक ओर उसका मुख था—दो डालिया के पत्ते उसकी ओट थे।

घोसला ज्यादा मजबूत तो न था फिर भी हवा-धूप आदि से अण्डो को सुरक्षित रख सकता था। धरती के बहुत पास होने के कारण उसे बहुत मजबूत भी नही कह सकते परन्तु यह कल्पना करना भी कठिन था कि कोई पक्षी धरती के इतने पास अपना घोसला बना भी सकता है। इसलिए यही कहा जा सकता है कि उसका निवास पर्याप्त सुरक्षित था।

वहाँ घोंसले के विषय मे यदि बिल्ली को पता चल जाए तो अण्डों का काम तमाम। परन्तु चिड़ियो का इस खतरे को न समझने का कारण अवश्य ही रहा होगा। उस घोसले का यहाँ रहना दूसरे स्थानों की अपेक्षा सुरक्षित ही था। यदि वह अशोक, कटहल अथवा सम्पिगे के ऊँचे वृक्षों पर होता तो उसे हवा का खतरा था। इसके अतिरिक्त बन्दरों के झुण्ड द्वारा उसके उखाड फेंक दिये जाने की भी आशंका थी। हमारे इन पेड़ों पर कौवे भी घोसले बनाते हैं। बन्दरो का झुण्ड दो या तीन सप्ताह मे एक बार आकर जो ऊधम मचाता है उसकी कोई सीमा नही। उस आक्रमण से जो भय उत्पन्न होता है, जो शोर और चिल्लाहट मचती है, वह हमारी देखी और सुनी हुई बात थी।

हमारी नन्ही चिड़ियों के घोसले को ऐसा कोई खतरा न था।

इसके कुछ दिन बाद मेरी पत्नी ने मुझे बताया कि उस घोसले में जो दो अण्डे थे उनमे से एक किसी तरह खिसककर धरती पर गिरकर टूट गया और दूसरा अण्डा वही सुरक्षित है।

चिड़ा-चिड़ी कभी-कभार ही घोसले में आते दिखाई देते और प्रायः हमें

पता न चलता कि वे कब आते। इसके अतिरिक्त वे कभी इकट्ठे नहीं आये। माँ या बाप कभी-कभी अशोक की टहनी पर बैठे घोसले को देखते दिखाई देते।

वसन्त के आरम्भ में जिस चिड़िया ने इतना मधुर गाया था उसका गाना हमें इन दिनों सुनाई ही नहीं पड़ा।

कुछ दिन और बीते—मालूम नहीं कितने। एक दिन दोपहर को जब मैं अपने कमरे में बिस्तर पर सोया हुआ था तब आसपास कौवों का विकट कोलाहल सुनाई दिया। हमारे घर के कटहल के पेड़ पर एक कौवे ने घोसला बना रखा था। इसलिए वहाँ दस-पन्द्रह दिन [उसने जो दरबार जमाया उसका ठिकाना न था। कटहल को बोने वाले हम, पालने वाले हम, फिर भी हम लोगों का उसके पास जाना कौवे को भाता न था। उसकी कल्पना थी कि उसके बहुमूल्य अण्डों और बेशकीमती बच्चों को हम कुछ कर डालेंगे। उन्हीं पन्द्रह दिनों में जिस दिन मैं कटहल के पेड़ के नीचे के पत्थर की बेंच पर बैठा तो उस कौवे ने मेरे सिर पर चोंच मारी और उड़ गया—

'इस पेड़ पर मेरा घोसला है, उसमें मेरे अण्डे हैं। इस पेड़ के पास आने का किसी दूसरे को क्या अधिकार ?'

उस दिन दोपहर को कौवों के उस विकट कोलाहल को सुनकर मैंने सोचा कि कटहल के पेड़ पर कोई बन्दरों का झुण्ड आ रहा होगा। परन्तु मैंने उठकर नहीं देखा।

कोलाहल और बढ़ा। पास के ही नहीं, दूर के भी कौवों की एक सेना इकट्ठी होकर अपनी कठोर-कर्कश ध्वनि में भयंकर शोर मचाने लगी। उस ध्वनि में क्रोध, क्षोभ और द्वेष सभी भरा था। कानों को फाड़ने वाली यह ध्वनि बन्द ही नहीं हो रही थी। कारण जानने के लिए मैं अपना बिस्तरा छोड़ छज्जे पर आया।

कटहल की एक शाखा से एक कौवे ने हमारे घर की चहारदीवारी के उस पार की धरती पर जोर से आक्रमण किया। उसने काँव-काँव की ध्वनि करते हुए जोर से जाकर किसी चीज में चोंच मारी और दूसरी ओर सम्पिगे के पेड़ की ओर उड़ गया। क्षणभर बाद एक और कौवे ने सम्पिगे के पेड़ की ओर उसी प्रकार आक्रमण करके चोंच मारी और वैसी ही ध्वनि करके दूसरी ओर जा बैठा। दूसरे कौवे आस-पास के पेड़ पर बैठे अपनी आवाजों से इनका साथ दे रहे थे।

धरती पर आक्रमण करके कौवों ने किसे चोंच मारी, यह पता नहीं लगा। यह कैसा शोर है जानने के लिए मैंने इधर-उधर देखा। सामने वाले घर के सम्पिगे की एक शाखा पर वही हमारी नन्हीं चिड़ियाँ साथ-साथ बैठी दीखीं। ऐसा प्रतीत होता था कि वे भी उसी स्थान की ओर देख रही थीं जहाँ कौवों ने

चोंच मारी थी ।

तभी मेरी पत्नी घर से बाहर आयी—उन्होंने पेड़ों के पास जाकर कौवों को डराकर भगा दिया और दीवार पर झुककर वह स्थान देखा जहाँ कौवों ने हमला बोलकर चोंचों का प्रहार किया था ।

मैंने ऊपर छज्जे से ही पूछा, "वहाँ क्या है ?"

उन्होंने बताया, "नन्ही चिड़ियों का बच्चा । उसे इन कौवों ने मार दिया है ।"

छोटा बच्चा शायद यह सोचकर बाहर आया होगा कि 'मेरे पर निकले हैं, जरा उड़ कर तो देखूँ ।' या शायद माँ-बाप ने ही बाहर बुलाया होगा । पता नहीं क्या बात थी ! शायद बच्चा यह नहीं जानता था कि ऐसे प्रयत्न से क्या होगा पर बुजुर्ग माँ-बाप को तो इस बात का पता होना चाहिए था ।

मुझे अत्यन्त दुःख हुआ, मेरा मुँह न खुल सका । मुझे कौवों पर बेहद क्रोध आया । छोटा होता तो शायद कटहल के पेड़ पर चढ़कर उन कौवों का घोंसला उखाड़कर फेंक देता और अपने क्रोध का निवारण कर लेता ।

'अरे कमबख्तो ! इन नन्ही चिड़ियों के नन्हे-से बच्चे को क्यों मारा ? क्या यही सोचकर कि जिसकी ध्वनि तुम्हारे समान कठोर नहीं उसे इस लोक में नहीं रहना चाहिए ?'

अपने से अधिक गुणवान से मनुष्य द्वेष करता है—क्या पक्षी भी मनुष्य जैसे हो सकते हैं ?

'गीतों की आवश्यकता नहीं बस आपकी मेहरबानी । काँ-काँ वाली आवाज बहुत है । विजय बल और शक्ति को मिलती है । उसके लिए दूसरे गुणों की आवश्यकता नहीं । गाने वाली नन्ही चिड़ियों को लोक में स्थान नहीं । जो स्थान है भी यह कौवों की भेंट है और जो बच जाता है वह कौवों को नहीं बन्दरों को चाहिए ।'

यह सोचते हुए और मन में कटुता अनुभव करते हुए मैंने सामने के सम्पिगे के पेड़ की ओर देखा । नन्हे माता-पिता जहाँ के तहाँ बैठे थे—उनकी आँखें वहीं जमीन पर टिकी थीं जहाँ बच्चे की मृत देह गिरी थी । उनकी दृष्टि में निराशा व्याप्त थी । उनके हृदय वेदना के कारण शून्य थे ।

तभी मेरी पत्नी आँखें पोंछकर भीतर आयी । मुझे रोना-सा आ गया । चिड़ियों की निराशा और उनके मन की शून्यता मेरे जीवन एवं हृदय पर छा गयी ।

(प्रकाशन वर्ष : 1957)

मंत्रोदय

महर्षि वामदेव द्वैपायन अरुणेय उस दिन अपना सौ वर्ष का जीवन पूर्ण करने जा रहे थे। यह बात सभी आश्रमों में फैल गयी थी। कुछ लोग भक्ति से उनके दर्शन करने आये, कुछ लोग कौतूहल से यह देखने आये कि वे अन्तिम दिन कैसे रहेंगे और कुछ असूया से यह देखना चाहते थे कि ये सच मे इच्छामरणी तपस्वी है क्या? आने वाले अपनी सुविधानुसार दो-दो और चार-चार की टोलियो मे उनके आश्रम पहुँचे।

अधिकांश लोगों का विचार था कि महर्षि वामदेव महाज्ञानी हैं, महायोगी हैं और महान्द्रष्टा हैं। परन्तु उन्होने मुँह खोलकर कभी चार बाते नही कही थी, किसी को उपदेश नही दिया था।

वामदेव ने अरुणेय वंश में जन्म लेकर बाल्यकाल से ही पिता के सान्निध्य मे बैठकर तत्वोपदेश प्राप्त करके अपने समय के महान् ज्ञानी के रूप में प्रसिद्धि पाई थी। पिता के स्वर्गस्थ होने पर उन्हे आश्रम का अधिकार अपने हाथ में लेना था, पर उन्होने ऐसा नहीं किया। उन्होंने आश्रम का प्रबन्ध अपने छोटे भाई को सौंप दिया और तपश्चर्या मे लग गये।

उस तपस्या का मुख्य अंश आश्रम की देख-भाल करना; अपने छोटे भाई, जो कुलपति थे, के उपदेश देने की जगह की व्यवस्था करना और आश्रमवासी, गोधन, पशु-पक्षी, हिरण आदि की देखभाल करना था। संध्या को सबके विश्राम करने के लिए चले जाने के बाद स्वयं

विश्राम करने जाना, और उदयकाल मे सबसे पहले उठकर आश्रम के अन्य सेवको को जगाकर दिन के कर्मचक्र मे पुनः लग जाना उनकी दिन-चर्या थी।

कई वर्ष इस प्रकार सेवा करने के बाद वामदेव एक दिन अपने छोटे भाई कुलपति के पास जाकर, यही कहकर "वशिष्ठ आश्रम जाने की इच्छा हो रही है, हो आता हूँ।" अकेले निकल पडे। कुलपति ने अपने भाई के साथ दो तरुणो को भेजने का विचार किया। पर बडे भाई ने यह बात स्वीकार नही की। उन्होने कहा, "वे क्या मेरी देखभाल करेंगे, मुझे ही उनकी देखभाल करनी पडेगी। उनकी आवश्यकता नही, मैं अकेला ही जाऊँगा।"

पता नही कितने वर्ष वे वशिष्ठ-आश्रम मे रहे और कितने वर्ष उन्होने प्रवास मे गुजारे ? लगभग बारह वर्ष के बाद वे अपने भाई के आश्रम लौट आये।

जिस दिन वे वापस लौटे उन्हे देखने वालो को एक बात अच्छी तरह याद थी। सदा से तेजस्वी उनका मुख उस दिन सूर्य-मण्डल की तरह अधिक देदीप्यमान था। बारह वर्ष बाद लौटे ऋषि जो काम जाते समय छोड़कर गये थे, उसी में लग गये। वही वृद्ध-सेवा, वही बाल-सेवा, वही गौ-सेवा, वही वृक्ष-पालन, वही लता-रक्षण, वही लोकपूजा—फिर से उनकी दिनचर्या बन गयी।

इसके एक वर्ष बाद छोटे भाई कुलपति की जीवन-लीला समाप्त हो गयी। तब कुछ लोगो का विचार था कि वामदेव आश्रम का प्रबन्ध अपने हाथो में ले लेंगे। लेकिन वामदेव ने भतीजे को वहाँ का प्रबन्धक बनाकर स्वयं एक वर्ष साथ रहकर वहाँ सेवा की। बाद में पास के वन मे एक बडे-से बरगद के वृक्ष के पास एक कुटी बनाकर, पुत्र की सम्मति लेकर वही रहने लगे।

यह बात भी बहुत पुरानी हो गयी, इसे जानने वाले भी आस-पास बहुत अधिक लोग अब नही रहे। महर्षि के भाई को देखने वाले तो और भी कम है। उनके पिता को जिन्होंने देखा वे तो केवल एक-दो ही है। महर्षि के जन्म के समय वाला तो कोई है ही नही।

महर्षि का जीवन एक विचित्र प्रकार का जीवन था। वे अपने ही एक छोटे से आश्रम मे रहते थे। उनके केवल दो साथी थे। उन्हे शिष्य भी नही कहा जा सकता था क्योकि महर्षि ने उन्हें एक दिन भी उपदेश नही दिया था। शिष्य भले ही न सही, उन्हे सेवक भी नही कहा जा सकता था। क्योकि आश्रम के सभी कामों मे महर्षि उनके साथ समान रूप से भाग लेते थे। महर्षि यदि कोई काम नही करते थे तो वह था राह मे आने वाले प्रवासी भिक्षुकों का अतिथि सत्कार। वैसे उनमे से कोई किसी जगह जाने मे उनकी सहायता

चाहता तो वह काम दूसरे दोनों व्यक्ति ही करते थे। महर्षि का इस काम में हाथ न डालने का कारण शायद यह रहा होगा कि लोग उनसे वह सेवा लेना नहीं चाहते थे।

यह कहा जाता था कि जब महर्षि ने वह नया आश्रम बनाना शुरू किया तब वहाँ घना जंगल था। उन्होंने स्वयं परिश्रम करके उसे यह रूप दिया था। आश्रम को उन्होंने अब एकदम नन्दनवन बना दिया था। बहुत ही पुराने उस महावटवृक्ष के चारों ओर पंक्तियों मे छोटे-छोटे पेड़ लगाये गये थे। उनमें कुछ फलों के और कुछ फूलो के थे। वहाँ के एक-एक पेड़ को महर्षि ने स्वय अपने हाथों से लगाया था और जल से सींचकर बडा किया था। उस महा वटवृक्ष के तले चारों दिशाओ मे एक चौकोर चबूतरा बना हुआ था। उस चबूतरे पर किसी भी ओर मुख करके बैठने पर सामने एक रास्ता दिखाई देता था। उस रास्ते के दोनों ओर वृक्ष लगे हुए थे। उस आश्रम के चार कोनो मे चार बडे कुएँ थे। उनके पास पत्थर की चौकियाँ गड़ी थीं। उन चौकियो पर छायादार पेड थे।

उस वन के प्रत्येक पेड-पौधे और लता का इतिहास महर्षि जानते थे। वन के फल-फूल आश्रमवासी और ग्रामवासियों के उपयोग मे आते थे। वामदेव के आश्रम तक चलकर आने वालो को फल-फूल की कमी नही होती थी।

उनके आश्रम मे चार दुधारू गायें थीं। ग्रामवासी गाय को ब्याहने के कुछ दिन बाद बछड़े सहित वहाँ लाकर छोड़ जाते थे। जब दूध सूखने लगता तब आकर गौ और बछड़े को वापस ले जाते। उनके वन से फल-फूल का लाभ उठाने के बदले में वे महर्षि का यह उपकार करते थे।

महर्षि का बुढ़ापा ज्यों-ज्यों बढने लगा त्यों-त्यों उन्हें मिलने आने वालों की संख्या भी बढने लगी। आगन्तुक कई बार महर्षि से प्रश्न पूछते, उन्हें वाद-विवाद में खींचने का प्रयास करते। उन सबको महर्षि एक ही उत्तर देते, "अब आप जो बात कह रहे हैं उसी को आधार मानकर स्वयं सोचिए। सत्य दीख जाएगा।"

उनके इस मौनव्रत को देखकर कइयों को बुरा लगता। उन लोगों में यह निश्चित मत बन गया था कि उन्होंने बचपन से शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया। कहीं अपना अज्ञान प्रकट न हो जाय इसलिए उन्होंने मौनव्रत धारण कर रखा है। परन्तु उनका निर्दोष जीवन, विश्व सौहार्द, और उनका अथक परिश्रम देखकर कुछ लोगों का कहना था कि शास्त्रों की बात तो कही नहीं जा सकती पर महर्षि के जीवन की शिक्षा बहुत हो चुकी थी।

महर्षि के भतीजे का कहना था, "ताऊजी की बुद्धि बहुत सूक्ष्म है और स्मरण शक्ति तो प्रचण्ड है। उन्होंने कभी किसी तर्क को दोहराया नहीं पर सब मतों को जानते हैं। बार-बार पढ़ने की इच्छा न होने के कारण पढ़ना छोड़कर

वे आश्रम के कामो मे जुट गये । यह बात पिता जी कभी-कभी कहा करते थे ।

महर्षि ने धीरे-से कहना शुरू कर दिया, "अब मेरे नब्बे वर्ष पूरे हो गये, इक्यानवे हो गये—निन्यानवे भी हो गये ।" यह बात सत्य भी होगी । क्योकि उनकी आयु का कोई भी व्यक्ति आस-पास में नही था । फिर भी यौवन से जो काम वे अपने भाई के आश्रम मे करते थे और बाद मे भतीजे के आश्रम में किये, वही काम अब भी अपने आश्रम मे कर रहे थे । कई साल बीत गये पर बुढापा नही आया, बुढापा भी आया होगा पर शक्ति नही घटी, शक्ति घटी भी होगी पर मन की शक्ति दुर्दम्य होकर खडी थी ।

एक दिन कुलपति का भतीजा जब उनके पास आया तब उन्होने उससे कहा, "अब मैं बहुत दिन तुम्हारी आँखों के सामने नही रहूँगा । मैं अब जाकर पितरों में मिल जाऊँगा ।"

तरुण कुलपति का दिल धक् से रह गया । उन्होंने कहा, "ऐसे क्यो कहते हैं ताऊजी ?"

"मेरे पिताजी ने मुझे आज्ञा दी थी कि लोक का कर्म करते हुए ससार मे सौ वर्ष तक जीओ । उनकी उस आज्ञा ने आशीर्वाद बनकर मुझे सौ वर्ष तक चलाया । सौ वर्ष पूरे हो जाने के बाद मुझे यहाँ रहने का कोई कारण नही दीखता ।"

"वे कब पूरे होगे ?"

"आने वाली चैत्र पूर्णिमा के दिन ।"

"हाय, आप इतनी जल्दी हमें छोड़कर चले जाएँगे ।" कहकर कुलपति ने, उनसे लिपटकर उनकी छाती पर सिर रखकर आँसू गिराये । महर्षि ने उसे अक मे भरकर उसके बाल सहलाते हुए उसके गाल चूमकर कहा, "यह शरीर चला जाएगा । मैं पितरों के साथ तुम्हारे पास आता रहूँगा । अगर कुलपति ही रोने लग जाय तो कैसे चलेगा ? आत्मा के विषय मे जो पाठ तुम दूसरो को पढाते हो क्या वह जीवन मे नही दीखना चाहिए, भैया ?"

तरुण कुलपति ने अपने को सम्भाला । उसने उठकर महर्षि के चरणों पर गिरकर दण्डवत् प्रणाम किया और प्रार्थना की, "आपने अभी तक किसी को शिष्य नही बनाया । अब कृपा करके मुझे अपने शिष्य के रूप मे अंगीकार करके मेरा उद्धार करें ।"

महर्षि बोले, "किसी को भी बड़ा मानकर इस प्रकार झुकने वाले जीव का उद्धार अवश्यम्भावी है । तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नही । तुम पूर्वजो के धर्म को निबाहते आ रहे हो । उसे रोकना मत, चलाते चलो, अपने आप उद्धार हो जाएगा ।"

"आप जिस धर्म की राह पर चल रहे हैं उसे अपनाना कोई ग़लती है क्या ?"

"जीवन में जो संदेह मैंने देखा और जो उसे देखते हैं, उन्हें मेरे धर्म का मार्ग अपनाना चाहिए ।"

"वह कौन-सा सन्देह है ?"

"जिन्हे यह पता नही उन्हे बताने की आवश्यकता नही । विचारो को समझने में सहायक बनना चाहिए, सन्देह बढ़ाना ऋषि का धर्म नही ।"

"आपने हमें इनमें से एक भी नहीं बताया । आपने अपनी विचारधारा चलाई ही नही । क्या आपकी विचारधारा आगे नही चलनी चाहिए ?"

"तत्वद्रष्टा महर्षि अनेक हैं । सब अपने अनुभव बताकर द्रष्टा कहलाये हैं। अब तक सत्य पर्याप्त मात्रा मे प्रकाशित हो चुका है । उसका अनुष्ठान होना चाहिए । नये ढंग से बताने की मेरे पास कोई बात नही ।"

"आपका जीवन ही एक अलग ढग का है । इसका क्या सूत्र है ? यह आप-को हमें बताना है न ?"

"बताने को है ही क्या ? अगर यह ढंग सही लगे तो इस रास्ते पर चलना चाहिए ।"

"कम-से-कम इतना तो बताइए न ?"

"जो बताने की आवश्यकता समझते है, वे ही बतायें ।"

तरुण कुलपति ने बात आगे नहीं बढ़ाई । उसने कहा, "मैंने आपकी पर्याप्त सेवा नहीं की । अब शेष दिनों में मैं आपके पास अधिक से अधिक बार आना चाहता हूँ । आपको अनुमति देनी होगी ।"

महर्षि ने क्षण भर सोचकर कहा, "अच्छी बात है । आते रहना ।"

पुत्र ने फिर से कहा, "अन्तिम दिन मैं आपके पास ही रहना चाहता ँ। इसकी भी अनुमति दीजिए ।"

महर्षि ने फिर से तनिक सोचकर कहा, "अच्छी बात है ।"

दो दिन बाद कुलपति ने कहा, "पूर्णिमा के दिन कोई आपसे आकर प्रश्न पूछे तो आप कृपा करके विषय को स्पष्ट करके बताइएगा ।"

महर्षि ने फिर सोचकर कहा, "अच्छी बात है ।"

यह बात हुए एक मास बीत गया । चैत्र की पूर्णिमा आ पहुँची । आस-पास के लोग महर्षि के दर्शनो के लिए आ रहे थे ।

सदा की भाँति प्रातः अपने नित्यकर्म निबटाकर महर्षि कुटिया के सामने वाली मल्लिका की लता के पास बैठकर उसकी जड की निरायी करके क्यारी बना रहे थे ।

दर्शनों के लिए आये दो व्यक्तियों ने पूछा, "यह क्या ? यह कार्य आप ही को करना है क्या ?"

महर्षि बोले, "हाँ भाई, यह मेरा ही काम है । माँ जैसे अपने बच्चों की

देखभाल आप करती है वैसे ही इन सब पेड़ों की देखभाल मुझे ही करनी है।"

"इस प्रकार संसार में लिप्त होना गलत है। ममता सद्गति में आड़े आती है। यह बात नहीं कही गयी क्या ?"

"ममता गलत है, प्रेम गलत नहीं। प्रेमपूर्वक काम करना ही सद्गति का साधन है। उसके सिवा सद्गति का और कोई मार्ग नहीं।"

"आप कम से कम आज तो विश्राम कीजिए। यह कार्य हममें से कोई कर लेगा।"

"नहीं भैया। मुझे इससे कोई कष्ट नहीं।"

"हाथों में मिट्टी लग जाएगी न !"

"हाथों में ही तो मिट्टी लगेगी। जीव पर कर्म का लेप नहीं होगा।"

दूसरे और भी लोग आये। महर्षि उस वटवृक्ष के नीचे बैठकर बाल सूर्य को निहार रहे थे। आश्रम का एक बछड़ा उनके पास आया। महर्षि ने पास की घास तोड़कर उसे खिलाई। पास आने वाले प्रणाम करके नीचे बैठ गये। उनमें से एक ने पूछा, "बहुत समय से विचार करने पर भी, भगवान् है या नहीं यह बात एक प्रश्न ही बनकर रह गयी है। इस बारे में महर्षि, हमें सही ज्ञान देने की कृपा करें।"

महर्षि बोले, "भैया यह समस्त चराचर, सृष्टि ईश्वर ही है और कुछ नहीं। जिस प्रकार इस सूर्य का प्रकाश बहिर लोक को आच्छादित किये है उसी प्रकार ईश्वर का प्रकाश अन्तर्लोक और बहिर लोक पर आच्छादित है। अपने मन से पूछो कि क्या यह लोक है ? यदि यह लोक है तो सभी ईश्वर है।"

"इसका अर्थ यह हुआ कि जो कुछ भी सामने है, वह ईश्वर है।"

"हाँ, निस्सन्देह। जो भीतर है, बाहर है, जो भी है सब ईश्वर है।"

"तब तो हमें ईश्वर के साथ व्यवहार करना कष्टकारक हो जाएगा ?"

"इसमें कष्ट की कोई बात नहीं। यह निश्चित रूप से मान लो कि सभी ईश्वर है तो व्यवहार करना सरल हो जाएगा। किसी विषय में विवाद उठता ही नहीं। सब सहमतिपूर्वक जीओगे। तुम अपने आप किसी से छीनने नहीं जाओगे।"

कुछ और लोग आये, ऋषि के पास बैठ गये। उन्होंने प्रश्न उठाया कि हम मानव गलती क्यों करते हैं ?

"इसलिए कि हम सारे संसार को एक जीव नहीं समझते। जो यह मानता है कि यह सब एक है वह यह भी समझता है कि दूसरे के साथ बुरा करने पर उसके साथ भी वही होता है। सारे दुर्व्यवहार आत्म-हनन के कारण होते हैं।"

"तो सारे दोष अज्ञान का फल हैं। कई बार हम जानते हुए भी गलती कर बैठते हैं न ?"

"तब समझने में कोई दोष रहता है।"

"समझने में ही कोई गलती हो जाए, और कोई दोष हो तो उस पर भी कोई दण्ड मिलेगा क्या ?"

"गलत रास्ते पर चलना ही स्वयं एक दण्ड है। प्रकाश बढ़ने की जगह चैतन्य में अँधेरा बढ़ेगा। यदि हम अच्छा जीवन बितायें तो प्रकाश के लोक में आरोहण करते हैं। गलत रास्ते पर चलें तो अँधेरे के गढे में उतर जाते हैं।"

एक जिज्ञासु ने आकर पूछा, "मैं ब्रह्म का स्वरूप जानना चाहता हूँ ?"

महर्षि ने उससे कई प्रश्न पूछने के बाद अन्त में कहा, "तुम इस विषय को पूछने के अधिकारी हो। सुनो और समझो। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' ऐसा बड़ों ने कहा है। यह अक्षरशः सत्य है। जिसे ब्रह्म कहा जाता है, उसके एक कण को भी ग्रहण करना हो तो दो असाध्य अवस्थाओं को जोड़कर बताना होगा। वह भी चल रहा है, और जहाँ का तहाँ भी है। वह दूर भी है और समीप भी। वह सबके भीतर वर्तमान है और सबके बाहर भी है। एक जगह स्थिर होने पर भी वह मन से अधिक वेग से चल सकता है। देवता लोग उसे छू नहीं सकते। वह सबका आदि है। पहाड़ से एक पत्थर लुढककर चाहे जितनी भी दूर जाए पर वह रहेगा धरती पर ही। धरती जहाँ की तहाँ रहकर भी, उस पत्थर का वेग रुकने पर जहाँ वह छूता है, वहाँ भी रहती है। इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व भागने वाली वस्तु को भागने की आरम्भिक अवस्था में भागने के लिए प्रेरित करता है। वह स्वयं हिलता नहीं उनके साथ रहता है। वे अपनी दौड समाप्त करके जब गन्तव्य को छूते हैं तब उनका हाथ थाम लेने को तत्पर रहता है।"

कुछ और लोग आये। उनमें से एक ने पूछा, "मैंने सुना है आप दया को ही मुख्य धर्म कहते हैं। बुरे को दया से भला कैसे देखा जाए, कृपा करके यह बताइए ?"

महर्षि बोले, "सब एक ही आत्मा है। मन में यह बात स्वीकार करनी होगी। तब दुष्टों के प्रति दया ही उपजेगी। घृणा होगी ही नहीं। जब तुम्हारे पाँव कीचड़ से सन जाते हैं तब पाँवों को बिना दुखाये धो डालते हो। इस सतर्कता का कारण है कि पाँव भी तुम ही हो, अलग नहीं। यह बात मन में रहती है। सभी जीवों के प्रति, यह भी मेरा ही अंश है, यह ज्ञान सहिष्णुता को जन्म देता है।"

"जब यह भाव मन में पैदा हो जाए कि सब कुछ मैं हूँ तब स्वार्थ ही प्रधान हो उठता है। परहित भूल जाता है।"

"सब कुछ मैं ही हूँ जब यह केवल चर्चा का विषय हो तब ऐसा होना सम्भव है पर जब यह बात अनुभव में आयेगी तब ऐसा नहीं होगा। पाँव पर चिकोटी काटकर हाथ और हाथ को काटकर मुँह सुखी नहीं हो सकते। पाँव पर

चोट लगने पर हाथ उसे सहलाता है। हाथ जलने पर मुँह उस पर फूंक मारता है। मुँह से यह तो नही निकलता कि हम सब एक है। पर एक होकर जीना ही तो उद्देश्य है। इस प्रकार रहने वाले जीव को मोह छूता नही, शोक भी नही होता।

"जब सब ब्रह्म कहा जाता है तो इससे मैं भी ब्रह्म हो जाता हूँ। फिर भी मैं कष्ट झेलता हूँ। इसका कारण ?

"इसका कारण भी वही है। मैं ब्रह्म हूँ, यह केवल बातों तक ही सीमित होता है। अनुभव में नही आता। जो आदमी यह समझता है कि मैं ब्रह्म हूँ उसमें मैं नाम की वस्तु समाप्त हो जाती है। उसके लिए काया नही। उसमे पीडा भी नही, पीड़ा अनुभव करने के लिए अग भी नही। वह एक शुद्ध तत्त्व है जिसे पीड़ा छू नही सकती।"

एक क्षण रुककर महर्षि बोले, "इस तत्त्व को जानने वाली आत्मा को ब्रह्म-तत्त्व मन्वन्तर, कल्पान्तर, समाविष्ट अनन्त काल तक शुभ अनुग्रह करता है।"

दोपहर होती जा रही थी। महर्षि के भतीजे वृद्ध कुलपति ने 'तनिक विश्राम कर लें' यह सोचकर दूसरो को वहाँ आने से रोका। महर्षि ने वही हाथ-पाँव धोये और उबले चने, फल और थोड़ा दूध लिया। उन्होंने एक मुट्ठी-भर चनों के चार भाग किये और चारो ओर रख दिये। बाद में पत्थर की चौकी पर ही लेट गये।

कुछ देर बाद चार गिलहरियाँ आकर चने खाने लगी। महर्षि उनके उस खाने को बडी प्रसन्नता से देख रहे थे।

सूर्य पश्चिम की ओर झुकने लगा। महर्षि पश्चिम की ओर वाले चबूतरे पर लेटे थे। सूर्य को ढलते देखकर सहर्ष चित्त हो ध्यान मे बैठ गये।

गगा की उत्तर दिशा के कुछ आश्रमवासी नदी पार करके आश्रम की सन्निधि मे आये।

उन दिनो विद्या और अविद्या, गृहस्थ और वैराग्य, इह और पर इनमें से एक को महत्त्व देकर दूसरे को घटिया बताते हुए वाद-विवाद चला करते थे। वाद-विवाद करने वालो मे कोई मूर्ख न था। इस कारण विवाद का भी कोई अन्त न था।

आगन्तुकों मे से एक ने प्रश्न किया, "मानव के लिए या साधक के लिए पर विद्या मुख्य है अथवा इह जीवन की सहायक अपरा विद्या मुख्य है? क्या गृहस्थी मोक्ष प्राप्त कर सकता है अथवा मोक्षाकांक्षी को विरागी ही होना चाहिए?"

महर्षि कुछ क्षणों बाद बोले, "ज्ञान-अज्ञान कहकर लोक का निराकरण करने वाला अंधकार के गर्त्त मे डूब जाता है। इह और पर कहकर ज्ञान का निराकरण करने वाला भी उसी के साथ अँधेरे मे उतर जाता है। इह के व्यवहार लिए श्रद्धा से विद्या प्राप्त करके, इह को चलाना चाहिए। पर के जीवन के . विद्या मे सिद्धि प्राप्त करके पर को साधना है। गृहस्थी मे रहकर

ही वैराग्य का अनुष्ठान करना चाहिए। तब गृहस्थधर्म बन्धन नहीं बनता और मोक्ष कठिन नहीं होता। जो परस्पर पूरक तत्त्व है उन्हें हम परस्पर विरोधी बनाकर छटपटाते हैं। यह गलत है। हमें धर्म की शिक्षा देने वाले गुरु महात्मा थे। उन्होंने शान्ति प्राप्त की थी। उन्होंने हमें इस प्रकार उपदेश दिया था।"

महर्षि का स्वर एकदम मद्धिम हो चला था। लगता था कि शक्ति एकदम क्षीण हो गयी है। बाद में एक-दो व्यक्तियों द्वारा किये प्रश्नों पर उन्होंने ध्यान भी नहीं दिया।

सूर्य रंगों का वैभव बिखेर कर दिगन्त के आँचल में उतरने लगा। साँझ की बयार धीमी-धीमी बह रही थी। आश्रम की वृक्षावलि पर पक्षी संकुल कलरव कर रहे थे। कुछ पुरानी बातें याद करके और अर्ध स्वगत रूप में महर्षि बड़-बड़ाये, "सूर्य का हिरण्यमय पात्र भूलोक को उजागर करने के बाद आकाश को भी देदीप्यमान कर देता है। घरों में रहने वालों को उनके घर की देहली घर में रखती है, मैदान से अलग कर देती है। जीवन की दहलीज लाँघने वाले को लाभ ही होता है, हानि नहीं। इह जीवन दिन है। उसमें हम अर्ध-सत्य देख पाते हैं। साँझ की दहलीज लाँघकर नभ का ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं।" इतना कहने के बाद, "हे सूर्यदेव, अपने प्रकाश का पट उठाओ। मैं सत्य देखना चाहता हूँ। वह मुझे दीखे।" कहते हुए उन्होंने हाथ जोड़े। दस निमिष बीत गये। महर्षि ने सुस्पष्ट और शुद्ध स्वर में कहा, 'पूषन् एकर्षे यम्। सूर्य प्राजापत्यव्यूह रश्मिन् समूह तेजः यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि।"

कुमार कुलपति आकर महर्षि के सिरहाने के पास सामने बैठ गया। वह अपने को रोक न सका। उसकी आँखों से दो बूंदें लुढ़क गयीं। महर्षि ने उसे देखा। बेटे के हाथ में हाथ रखा। एक क्षण बाद बोले, "योऽसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।" संकेत से उसे उन्होंने अपने को पूर्व दिशा वाली चौकी की ओर ले जाने को कहा। कुलपति और चार व्यक्ति उन्हें धीरे-से उठाकर महावृक्ष की पूर्व दिशा की चौकी पर ले गये। महर्षि पूर्वाभिमुख होकर दायीं बाँह पर सिर रखकर लेट गये।

सबकी आँखें भर आयीं। महर्षि ने यह देखा और उन्हें सान्त्वना दी। उनके मुख से निकला—"वायुरनिलं अमृतम् अथेदं भस्मान्तम् शरीरम्।" फिर उन्होंने "ओम्" का घोष किया। फिर अपने-आप में बार-बार कहने लगे, "क्रतु को स्मरण करो, कृत को स्मरण करो, ध्येय का स्मरण करो और जिसको सिद्ध किया उसका भी स्मरण करो।"

कुमार कुलपति ने पास झुककर पूछा, "कृत कौन-सा है?" महर्षि धीरे से बोले, "सारी धरती इस प्रकार नन्दन वन जानी चाहिए। इसी प्रकार भीतर का जीवन भी सुन्दर और सफल होना चाहिए।"

एक क्षण बाद महर्षि ने कुमार को पास बुलाकर कहा, "मेरी होमाग्नि यहीं मँगवा लो।"

कुलपति ने रोते हुए जाकर अग्नि लाकर उनके सामने रखी।

सूर्य पूर्णरूप से अस्त हो गया। पूर्वदिशा का धुँधले चन्द्रमा का बिम्ब और अधिक कान्तियुक्त हो उठा। वहाँ अदृश्य होने वाला अग्नि का गोला यहाँ नवनीत के पिण्ड के समान हो गया। महर्षि ने अग्नि को नमस्कार किया और वदिक ऋषियों के रचे मंत्र आँखें मूँदकर सस्वर बोलने लगे—

"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो, भूयिष्ठांते नम उक्तिम् विधेम।"

आँखें मूँद महर्षि ने इस मन्त्रोच्चारण के बाद बहुत देर तक आँखें नहीं खोलीं। कुलपति ने आगे बढ़कर महर्षि के चरण छुए।

महर्षि ने आँखें खोलकर देखा। बेटे को देखा। कलाओं से परिपूरित चन्द्रमा को देखा, चमकते नक्षत्रों से भरे आकाश को देखा, "यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि।" यह मन्त्र कई बार जपने के बाद उन्होंने आँखें मूँद लीं।

बाद में वे आँखें खुली ही नहीं। मध्यरात्रि में स्वाँस रुक गये। प्रातः तक देह ठंडी पड़ गयी थी।

अपने संकल्प के अनुसार अपनी देह का त्याग करने वाले को सबने एक महाज्ञानी के रूप में स्वीकार किया। ऐसे महर्षि के नाम पर एक उपनिषद् भी न बन सका, अधिकांश लोगों को यह चिन्ता हुई।

महर्षि का जीवन-क्रम पसन्द न करने वालों का कहना था, "उनसे वन पालन और गोरक्षण सीखा जा सकता था। वे भला उपनिषद् क्या लिखते!"

अन्तिम दिन उनके दर्शन को आने वालों में एक समझदार व्यक्ति ने कहा, "महर्षि ने अन्तिम दिन जो वाक्य कहे थे उनका संग्रह करके उनके नाम पर एक उपनिषद् का प्रचार करेंगे।"

इस पर कुलपति ने कहा, "इसी विचार से मैंने महर्षि से प्रार्थना की थी कि अन्तिम दिन जो प्रश्न पूछे जाएँ उन सभी का कृपा करके उत्तर दे दें।"

अगर कोई यह पूछता था कि आपका कोई उपनिषद् नहीं होना चाहिए क्या? तो महर्षि अपना हाथ नन्दन वन की ओर उठाकर कहते, "यह मेरा उपनिषद् है।"

एक और प्रसंग में उन्होंने कहा था, "मेरे नाम पर एक अलग उपनिषद् की क्या आवश्यकता है, ईशोपनिषद् नहीं है क्या?"

किसी एक और सदर्भ में उन्होंने कहा था, "मानव का उपनिषद् उसकी बातों में है। ईश का उपनिषद् लोक में है।"

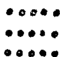
ये सब बातें बाद में पता चलीं। समस्त विद्वानों ने उस महर्षि को एक

कर्मयोगी के रूप में स्वीकार किया। उनमें श्रद्धा रखने वालों ने मिलकर उनके भतीजे के पास आकर, जो कुछ महर्षि के मुख से सुना था वह सुनाया। कुलपति और कुछ अन्य विद्वानों ने महर्षि के कहे वाक्यों को एकत्रित करके ईशोपनिषद् का निर्माण किया।

वामदेव द्वैपायन अरुणेय महर्षि के द्वारा जलाये ज्ञानदीप के कुछ भाग उन वाक्यों के रूप में चमककर आज भी मानव जीवन को आलोकित कर रहे हैं।

(प्रकाशन वर्ष : 1957)

विचित्र प्रेम



फ्रांस का महान् साहित्यकार वाल्टेयर फ्रांस की राजधानी पेरिस में एक शाम मनोरंजन-गृह में बैठा था। एक हरकारे ने आकर वहाँ के एक सेवक को वाल्टेयर को बाहर भेजने को कहा। वाल्टेयर ने द्वार पर आकर पूछा, "क्या बात है?" हरकारे ने कहा, 'चाटलाइट महाप्रभु ने एक समाचार भेजा है। उनकी सम्राज्ञी ने कल एक शिशु को जन्म दिया है, उनकी हालत बड़ी नाजुक है। वे आपको देखना चाहती हैं।"

वाल्टेयर का दिल धक् से रह गया। चाटलाइट की रानी दो वर्ष पूर्व इसकी प्रेयसी थी। पता नहीं कितने वर्ष उसने अपने पति को पति न मानकर, इसी बुद्धिमान् के साथ पति के समान व्यवहार करके इसके जीवन को आलोकित कर दिया था, सुख से भर दिया था। कई वर्ष इसी प्रकार रहने के बाद उसने एक दिन अपना स्नेह व्यक्त करना बन्द कर दिया। इसे ऐसा लगा मानो जीवन का आधार ही छिन गया हो। न चाहने वाली स्त्री के पास ठहरने का मन न हुआ इसलिए उसे छोड़कर यह दूर चला आया था।

इसकी प्रेयसी के इस प्रकार बदल जाने का कारण इसे कुछ ही दिन बाद पता चल गया। सेंट लैम्बर्ट नाम का एक तरुण उस रानी के स्नेह का भाजन बन गया था। सुन्दरी ने सुन्दरता का वरण कर लिया था और इसे दूर कर दिया था।

सेंट लैम्बर्ट तरुण और सुदर्शन भी था और यह

न तो तरुण था और न ही सुदर्शन ही। रानी के उसके सौन्दर्य से प्रभावित होकर इस कुरूप से दूर हटने में कोई आश्चर्य की बात न थी। पर जब उसने प्रेम दर्शाया था तब भी यह तरुण न था और न सुन्दर था। तब भी यह कुरूप ही था। तब सुन्दर तरुण और राजा लोग कितने थे। उसने इससे प्रेम क्यों किया? स्नेह क्यों दिखाया? प्रसन्न क्यों किया? प्रेम करके, स्नेह दिखाकर, प्रसन्न करके, कुछ वर्ष साथ बिताकर, क्या इस प्रकार एकदम छोड देना चाहिए?

तब जिस स्त्री ने मुझसे इतनी निष्ठुरता दिखाई और कठोर व्यवहार किया वही आज मुझे देखना चाहती है। क्या मुझे जाना चाहिए? उसका पति वहीं होगा, उससे मिलना ठीक होगा क्या? सेंट लैम्बर्ट भी वहाँ हो सकता है। क्या उससे भी मिलना होगा? जाने पर सबसे बात करनी पड़ेगी—उस पति से, इस प्रेमी से, मुरझाकर मृत्युशैया पर पडी उस प्रेमिका से। पर क्या बात करनी होगी?

ये सब विचार बिजली के समान उसके मन में कौंध गये। तब वाल्टेयर ने हरकारे से कहा, "समाचार पहुँचाकर तुमने बडा उपकार किया। अब तुम जाओ। सम्राट् से मेरा नमस्कार कहना और यह भी निवेदन करना कि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे ही पहुँच रहा हूँ।"

मनोरंजन-गृह के भीतर जाकर आतिथेय से अनुमति लेकर वाल्टेयर अपने निवास पर गया और वहाँ से तेजी से चाटलाइट किले की ओर चल पडा।

राह में जाते हुए वह उस प्रेयसी के साथ बिताये जीवन के बारे में विचार करने लगा। सम्राज्ञी इसके जीवन को तृप्त करने वाली केवल एक प्रेमिका भर नहीं थी बल्कि इसकी बातें सुनकर पसन्द करने वाली भी थी, और अपने विचारों के अनुसार समझदारी से राय देने वाली थी। उसने यह लिखो, वह लिखो, ऐसा कहकर इसे प्रेरित किया था। लिख लेने पर सबसे पहले उसे सुनती थी और सुनकर अमुक को छोडने और अमुक को जोड़ने का सुझाव भी देती थी। इसके भौतिक शास्त्र के प्रयोगों के लिए उसने राजमहल में ही एक प्रयोगशाला बनवा दी थी। वहाँ इसके साथ ही उसने प्रयोग भी किये थे। कई बार इसको न दिखाई देने वाली चीजें भी उसने देखकर स्पष्ट की थी। इन दोनों का जीवन केवल शारीरिक आकर्षण मात्र ही नहीं था बल्कि ये दोनों एक जान दो शरीर होकर जीये थे।

चाटलाइट के राजमहल पहुँचते ही सम्राट् ही इसे सामने मिले और एक अत्यन्त प्रिय मित्र की भाँति इसका स्वागत करते हुए बोले, "सम्राज्ञी बहुत ही दुर्बल हो गयी हैं। शायद बचेंगी नहीं। उन्होंने आपको देखने की इच्छा व्यक्त की इसीलिए मैंने आपको कष्ट दिया।" उनकी बातों में 'यह मुझसे मेरी पत्नी छीनने वाला दुष्ट है, 'इस प्रकार के द्वेष की गंध मात्र भी न थी। एक पतिव्रता

पत्नी किसी शुद्ध मन वाले अपने प्रिय बन्धु को देखने की इच्छा प्रकट करती है तो पति जैसा व्यवहार करता है, सम्राट् का व्यवहार ठीक वैसा ही था।

वाल्टेयर ने जीवन के बहुत-से रंग देखे थे और स्वयं भी कई तरह का जीवन बिताया था। मानव का व्यवहार उसे बहुत कम ही अपवाद के रूप में दीखता। उसकी प्रेयसी सम्राज्ञी के पति, सम्राट् के इस समय के व्यवहार ने वाल्टेयर को आश्चर्य में डाल दिया।

भीतर जाने पर इसकी अपेक्षानुसार इसे सेंट लैम्बर्ट दिखाई दिया। चाटलाइट के महाराज ने लैम्बर्ट से कहा, "वाल्टेयर साहब पधारे हैं। सम्राज्ञी का हाल जानकर क्या इन्हें भीतर ले जा सकेंगे?" लैम्बर्ट आगे आया। उसने झुककर उसे इस रीति से नमस्कार किया मानो यह दिखा रहा हो कि वाल्टेयर उससे बहुत बड़ा है।

वाल्टेयर ने उसका नमस्कार स्वीकार करके उसका हाथ थामकर पूछा, "आप कुशल तो हैं?" और उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही सम्राज्ञी के स्वास्थ्य के बारे में पूछा। उन दोनों के बीच जब ये औपचारिकताएँ चल रही थी, तब सम्राट् बाहर चले गये। सेंट लैम्बर्ट बोला, "सम्राज्ञी के बचने की आशा नहीं है। इसलिए उन्होंने आपसे मिलने की इच्छा व्यक्त की है।"

"मैं यमराज तो नहीं न?" कहकर वाल्टेयर हँस पड़ा।

सेन्ट लैम्बर्ट बोला, "सम्राज्ञी ने जब आपको याद किया था तब उन्होंने मुझसे पहले ही कह दिया था कि आप यह कहेंगे। आपने एक बात कही थी वही हम दोनों ने याद की थी।"

"उन्होंने क्या कहा था?"

"बताने में संकोच होता है।"

"संकोच किस बात का? जब भी वे मुझे अपना चुम्बन देती तब मुझे लगता था कि जीव मृत्यु को चूम रहा है। यह बात मैंने उनसे कही भी थी। क्या इसी बात का उन्होंने आपसे उल्लेख किया था?"

"जी हाँ।"

"और क्या कहा था?"

"वह भी बताने में संकोच होता है।"

"उन्होंने मुझे उसके प्रत्युत्तर में, 'जीव मृत्यु को नहीं, नश्वर सौन्दर्य अनश्वर सौन्दर्य को चुम्बन दे रहा है' यह भी बताया था क्या?"

"जी हाँ, 'उसका और मेरा सौन्दर्य नश्वर सौन्दर्य है, मिट्टी का है। आपका सौन्दर्य अमर-चेतन का सौन्दर्य है।' यह उनका कहना था।"

"फिर भी उस सौन्दर्य ने इस सौन्दर्य को त्याग दिया था।"

"उन्होंने कहा था, 'एक नश्वर का मिलाप जैसा नश्वर से हो सकता है वैसा

अनश्वर से नहीं । मैं तुम्हारे साथ चल सकती हूँ । मैं वाल्टेयर की बराबरी नहीं कर सकती ।"

वाल्टेयर ने कोई उत्तर न दिया । वह यह जानता था कि सम्राज्ञी ने जो कुछ कहा वह उसके दिल से निकली बात है । सम्राज्ञी अत्यधिक सुन्दर है साथ ही उतनी ही चतुर भी है । साथ ही उतनी ही साहसी भी । संभ्रान्त घर में जन्म लेकर उससे भी संभ्रान्त घर मे ब्याही गयी । पति और उसकी आयु में काफी अन्तर था । उनके समाज मे पत्नी की ऐसे प्रसंगों मे अन्य पुरुष के साथ घनिष्ठता अपराध नहीं था । केवल जनता की आँखों में पड़ने लायक़ अविवेक नहीं होना चाहिए था । इसने स्वयं देखा था कि वह पति के प्रति प्रेम दिखाती और उससे प्यार भी पाती रही । ऐसा होते हुए भी इससे प्रेम करना छोड़कर लैम्बर्ट से प्यार करने लग गयी थी । तब भी उसने पति के प्रति प्रेम बराबर बनाये रखा । सचमुच मे वह जितनी सुन्दरी थी उतनी ही चतुर और उतनी ही साहसी भी थी ।

'खैर, मुझे इसे छोड़े एक वर्ष से ऊपर हो गया । एक बार छोड़ देने के बाद उसने मुझे फिर से क्यों बुलाया ?'

वाल्टेयर जब इस सोच में पड़ा था तब सेंट लैम्बर्ट ने सम्राज्ञी के कमरे के पास जाकर दासी से कहा, "सम्राज्ञी के जागते ही खबर देना कि वाल्टेयर पधारे है ।"

सम्राज्ञी जाग ही रही थी, उसकी बात सुनते ही अत्यन्त क्षीण पर प्रसन्न स्वर में बोली, "आ गये ? तुरन्त भीतर लिवा लाओ ।"

दासी ने और कुछ नहीं कहा । सेंट लैम्बर्ट ने वाल्टेयर के पास आकर सम्राज्ञी की इच्छा व्यक्त की । वाल्टेयर भीतर गया ।

सम्राज्ञी के पलंग की ओर जब वह जा ही रहा था तब उसकी आँखों मे इसके प्रति आदर उमड़ रहा था । वह बोली, "आ गये फ्रॉकाय ? मुझे यह डर था कि तुम कहीं 'चिढ़कर नहीं आऊँगा' तो नहीं कह दोगे ।" यह कहकर अपने दोनों हाथ उसकी ओर पसारे ।

वाल्टेयर उसका मद्धिम स्वर सुनते ही दुखी हो उठा । काँसे का स्वर, चमकती आँखें, आकर्षक भौंहें, मुस्कान से भरे होंठ, स्फूर्ति से भरा व्यक्तित्व—ऐसी थी उसके मन में सम्राज्ञी की छवि । वह छवि अब ऐसी हो उठी है । पास जाकर उसके हाथों को चूमता हुआ वह बोला, "आप कहला भेजतीं तो क्या मैं आता नहीं ?" सम्राज्ञी ने पलंग के पास पड़ी कुर्सी की ओर संकेत किया । वह उस पर बैठ गया ।

सम्राज्ञी बोली, "मुझे पता था, क्या मैं नहीं जानती थी कि तुम्हारे उन्नत मन और सांसारिक क्षुद्र विचारों में कितना अन्तर है ?"

"मैं इतना ऊँचा नही हूँ जितना तुमने समझ रखा है। यह मुख जितना कुरूप है, यह मन भी उतना ही विरूप है। बुद्धि ही थोड़ी-सी तेज है। पर केवल उतने से ही सभी कुछ अच्छा नही हो जाता।"

"ठीक है। यहाँ तो मुख भी कुरूप है, मन भी विरूप है, बुद्धि भी मोटी है, यह दुनिया है। इस भाग्यहीन ससार मे तुम जैसे ही लोग प्रकाश के स्तम्भ होते हैं।"

"अच्छा छोड़ो, अब तुम कैसी हो?"

"अब कहने और बताने का समय नही रहा। तुम्हारे आने की प्रतीक्षा मे एक दिन को साँसें अटकी थी। अब उनका काम निबट गया।"

"छिः! इस तरह कही धैर्य छोड़ते है?"

"यहाँ धैर्य की बात ही नही। मैं सेंट लैम्बर्ट जैसे मुख वाले एक बच्चे की माँ बनना चाहती थी। बच्चे को जन्म दिया। वह रहा नही। इतने दिन बाँझ रहने के बाद, इस उमर मे माँ बनने की इच्छा करना गलती थी। जीवन ने मुझे मृत्यु-दण्ड दिया। मैंने स्वीकार कर लिया।"

सम्राज्ञी की ये बातें सुनने पर वाल्टेयर को लगा कि वह एकदम सत्य कहती है। सौन्दर्य विहीन उस घर मे उस सुन्दर आत्मा ने इसे चौदह वर्ष तक आनन्द से आप्लावित किया था। इसके जीवन मे आनन्द की सरिता बहाई थी। उसे लुकाव, छिपाव, कपट-कुटिलता आदि छूकर भी नही गये थे। वह आत्मा कितनी महान् है; इतनी बात भी यह समझ नही पाया था। उसने इसे छोड़कर सेंट लैम्बर्ट का वरण किया, इस बात पर जो क्रोध इसके मन की तह मे छिपा था वह एकदम जाता रहा।

थोड़ी-सी देर के लिए उसका मन यह भूल गया कि उस स्त्री ने उससे कभी प्यार किया था। उस क्षण उसके सामने केवल एक स्त्री थी। एक सुन्दर साहसी स्त्री जो जवानी मे ही मृत्यु के द्वार पर जा खड़ी हुई है, यह सुख उसके मन मे भर उठा था।

एक क्षण भर को चुप रहकर वह बोला, "तुमने ऐसी दशा मे मुझे देखने को क्यों बुलाया?"

"आँखें मूँद लेने से पहले मेरी आत्मा को तृप्त करने वाले आप तीनों को एक साथ आँख भरकर देखने की इच्छा से।"

"तुमने तो ऐसा कह दिया, पर उन तीनो के बारे मे भी तुमने सोचा?"

"सोचा था। तुम तो बुद्धि के आगार हो। तुम्हे तो इससे दुख नही होगा। सेंट लैम्बर्ट एक शिशु जैसा आदमी है, जो मैं चाहती हूँ वही उसे पसन्द है। उसके मन मे स्वार्थ नही। मेरे प्रभु उदारमना हैं। विवाह के दिन उन्होंने मुझसे कहा था, 'मैं यह नही मानता कि तुम केवल मेरी पत्नी बनकर आयी

हो। मैंने कभी पत्नी को दासी नहीं माना। पति-पत्नी के सम्बन्ध में जो पति को पसन्द हो वह पत्नी को भी होना चाहिए। मेरी दादी जीवन का यह सूत्र बताया करती थीं।' तब मैंने कहा, 'मुझे भी लगता है कि उस सूत्र में न्याय है। एक स्त्री की कही बात दूसरी स्त्री को भला परायी कैसे लग सकती है? पर क्या पुरुष यह मान सकता है?' इस पर प्रभु ने, 'मैं मानता हूँ' कहकर हाथ पर हाथ रखा। मैंने कहा, 'कहने और करने में बड़ा अन्तर है।' प्रभु ने कहा 'हो सकता है आसान न हो पर मैं इसे निभाऊँगा'।"

"यह बात तुमने कभी नही बताई ?"

"तुमने कभी उनकी बात उठाई ही नही अत: मुझे बताने की जरूरत ही नही पड़ी।"

"मैं तो पहले से ही जानता था कि तुम एक असाधारण महिला हो, पर कितनी असाधारण हो, यह इस क्षण तक पता न था और उतने ही निश्चित रूप से यह तो जानता ही न था कि तुम्हारे प्रभु असाधारण है,।"

"वे अत्यन्त असाधारण पुरुष है। एक वर्ष साथ रहने के बाद जब उन्हे अपनी सेना के साथ बाहर जाना पड़ा तो उन्होने स्वय कहा कि तुम्हे वाल्टेयर बहुत पसन्द हैं। उन्हे राजमहल मे अतिथि के रूप में आकर रहने को कहला भेजो। उनकी उस बात पर ही मैंने तुम्हें आमन्त्रित किया था और तुम यहाँ आकर ठहरे। एक मास तक तुम्हारा सत्कार करने के बाद वे यहाँ गये। मैं पति को धोखा देने वाली कुलटा नही और वे पत्नी का दुर्व्यवहार असह्य हो कर सहन करने वाले पति भी नही।"

"उनके बारे मे ये सब बातें मेरे लिए नयी है। अब मेरी समझ में आ रहा है कि कुछ क्षण पूर्व जब मैं यहाँ आया तब उन्होने इतने निष्कलुष भाव से मेरा स्वागत कैसे किया और भीतर वाले कमरे में सेट सैम्पर्ट कैसे बैठा था।"

"जी हां। मेरे प्रभु यदि छोटे मन के आदमी होते तो मेरे जीवन की रीति कुछ और ही होती और मैं इस घर में नही रहती।"

"घर में नही रहती ?"

"यह बात नही कि वे मुझे घर से निकाल देते पर उससे पहले मैं स्वयं ही चली जाती।"

"मैं इस बात पर विश्वास कर सकता हूँ।"

"मुझे इससे सन्तोष है। 'मानव जाति की स्त्री मानती है, वह गुड़िया नहीं। उसके लिए पर पुरुषों का पुरुषों की तरह आपस में लड़ना उचित नहीं।' तुम्हारी एक बार की कही बात मुझे याद है। यह बात सब स्त्री-पुरुषों को याद रखनी चाहिए। यदि ऐसा हो तो [illegible] न दुखी होगा।"

"कौन-सी बात ?"

"जो प्रेम न करे वह मेरे लिए स्त्री नहीं, जो सहन न करे वह तुम्हारे लिए पुरुष नहीं।"

"सही तो है।"

"मेरी साँसें डूब रही हैं। कल सुबह से पहले इन साँसों का काम खत्म हो जाएगा। अगर आज रात ठहर सको तो ठहर जाओ।"

"ठहरूँगा।"

"मुझे इस बात का दुख नहीं कि मैं इतनी जल्दी दुनिया से जा रही हूँ। एक स्त्री को जो-जो चाहिए वह सब कुछ मैंने पाया है।"

"अच्छा यह बात है ?"

"नहीं तो क्या ? मेरे प्रभु ने मुझे पद दिया और तुमने एक बुद्धिमान का प्रेम दिया।"

"और?"

"बताऊँ ? संट लैम्बर्ट ने रूप के अनुभव का सुख दिया और मैं तृप्त हो गयी।"

सम्राज्ञी ने फिर अपने दोनों हाथ वाल्टेयर की ओर फैलाए। उसने उन पर चुम्बन दिया और आँखों से लगाया। सम्राज्ञी ने बड़े प्यार से उसके सूखे गालों को सहलाया।

उसका प्यार वाल्टेयर को दया का भण्डार-सा महसूस हुआ। वह उठकर कमरे से बाहर चला आया। सम्राज्ञी की बातों ने प्लेटो के अपने आदर्श राष्ट्र में स्त्री मनोधर्म के बारे में जो बातें कही थीं, वे सब याद दिला दीं।



उस रात सम्राज्ञी परलोकगामिनी हुई। सुबह तक आसपास के सम्बन्धी एकत्रित हो गये। उसे उसी दिन मिट्टी देने का निश्चय किया गया। वाल्टेयर उसकी अन्तिम यात्रा के राजमहल से निकलने तक, सम्राट् और सेंट लैम्बर्ट के साथ खड़ा रहा। उसके जाते ही वह पेरिस की ओर चल पड़ा।

जाने से पहले उसने सम्राट् से कहा, "सम्राज्ञी ने बताया था कि आप कितने असाधारण और महान् व्यक्ति हैं।"

सम्राट् ने कहा, "वे बहुत समझदार थीं। यह उदारता तो केवल एक सभ्य व्यवहार है। उन्होंने मुझे पसन्द किया था, यह उनकी उदारता थी।" एक क्षण बाद फिर से बोले, "आप फ्रांस के अत्यन्त बुद्धिमान् महापुरुष हैं, आपने उनसे कहा था कि उनका एकमात्र दोष यह है कि उन्होंने स्त्री होकर जन्म लिया।" फिर रुककर बोले, "उनका स्त्री होना ही महादोष हुआ।" आँखों में उमड़े

आँसू रोकने के लिए उन्होंने दूसरी ओर मुँह फेर लिया ।

वाल्टेयर की आँखों मे भी आँसू उमड आये पर उसने अपने को रोका। वह सम्राट् का हाथ थामकर ज़ोर से दबाकर चार कदम की दूरी पर खड़े सेंट लैम्बर्ट के पास गया। सेंट लैम्बर्ट उससे बोला, "आपका आना बहुत अच्छा रहा। सम्राज्ञी ने बहुत शान्ति से आँखे मूँदी।"

"यह बात है ?"

"जी हाँ, आपको कहलाकर भेजते समय ही उन्होने मुझसे कहा था--वाल्टेयर यदि आ गये तो एक बात मेरे मन मे साफ हो जाएगी। ससार को चलाने वाली एक शक्ति है, यह मै जानती हूँ। वह जितनी शक्तिशाली है उतनी ही क्षमाशील भी है। जहाँ तक मैं समझती हूँ, मैने किसी को धोखा नही दिया। यह नही कह सकती कि वह ठीक ही था। समाज इसे ठीक नही कहता परन्तु दुनिया को बनाने वाली शक्ति ने हमें ऐसा बनाया है। समाज का सही या गलत, समाज के लिए ही ठीक है; भगवान् के सामने एक ही बात सही हो सकती है, वह है वंचनाहीन होना। वाल्टेयर ने यदि मुझे क्षमा कर दिया तो यह निश्चित है कि भगवान् मुझे क्षमा कर देगा। धोखा न देने पर भी मैंने तुम सब लोगों को कष्ट दिया। मैंने भगवान् को किसी प्रकार कष्ट नही दिया। कष्ट भोगने वाला समझदार व्यक्ति ही यदि मुझे क्षमा कर दे तो माता-पिता के समान भगवान् कभी क्रोध करेगा क्या ?"

वाल्टेयर : "उन्होने यह कहा था ? सम्राज्ञी गणितशास्त्र में दक्ष थी। उस बुद्धि को जो बात सूझी उसमें सत्य अवश्य होगा। पर आप तो उसका ऐसे वर्णन कर रहे हैं जैसे आपने उसे कंठस्थ कर रखा हो।"

"यह बात उन्होने चार-पाँच बार कही थी। इसलिए अपने आप याद हो गयी। इसके अलावा यह बात मुझे पसन्द भी आयी थी।"

"यह बात ठीक है। यह बात तो ऐसी है जो सभी को पसन्द आयेगी।"

यह कहकर वाल्टेयर ने सेंट लैम्बर्ट का हाथ पकड़कर प्रेम से दबाया और उससे अनुमति लेकर पेरिस की ओर चल पड़ा। भगवान् के बारे मे कही सम्राज्ञी की बात उसके मन पर छायी हुई थी।

(प्रकाशन वर्ष : 1965)

आचार्य की अकिंचनता

लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व गेलेयसाली गाँव के ब्रह्मश्री रामचन्द्राचार्य सिरिगुर्द के राजभवन में राजकुमार को अक्षराभ्यास कराने के लिए गुरु के रूप में नियुक्त किये गये। आचार्य की सदाचार के प्रति बहुत निष्ठा थी। वे पुरानी परम्परा मे विश्वास रखने वाले वैदिक ब्राह्मण थे। उनकी ऊँची सदाचार भावना से प्रभावित होकर देसाई ने उनसे अपने कुमार का गुरु बनने की प्रार्थना की थी। राजमहल के लोग भी बहुत धार्मिक प्रवृत्ति के थे। आचार्य जी को भी वह पसन्द आया। महान् पंडित होने पर पंडित जी देसाई कुमार को उसी के योग्य शिक्षा देने लगे। उसी कुमार को आगे चलकर राजा बनना था, अतः वे राजा बनने योग्य गुण और शिक्षा कुमार को सिखाते हुए भगवान् से उसकी सफलता के लिए प्रार्थना करते। इस प्रकार वे अपना गुरु होने का कर्तव्य निभाने लगे। आचार्य की शिक्षा का फल अच्छा ही निकला। गुरु और शिष्य के सम्बन्ध भी बड़े घनिष्ट होने लगे। कुमार को प्रतिदिन स्नान आदि करके अपना सामान आदि लेकर समय पर गुरु के निवास पर पहुँचना होता था। उसी के साथ एक सेवक आचार्य के लिए पूजा, नैवेद्य और भोजन की सामग्री चार थालियों में लेकर जाता था। शिष्य गुरु को साष्टांग नमस्कार करके उन्हे वह सब अर्पित करता और बाद में पढाई आरम्भ होती। शिष्य सामग्री अर्पित किये बिना पढ नही सकता था। आचार्य भी अपने लिए आवश्यक सामान से अधिक स्वीकार नहीं करते थे। अपने धर्म का निष्ठापूर्वक

पालन करने वाले ब्राह्मण के लिए ऐसी अकिंचनता पहला लक्षण थी। आचार्य उसका बड़ी निष्ठा से पालन करते।

एक दिन की भोजन सामग्री आ जाने के बाद यदि कोई अतिथि आ जाता तो गुरु की पत्नी राजभवन से उसके खाने के लिए सामग्री मँगवा लेती—केवल उसके खाने भर के लिए ही, उससे अधिक नहीं।

ये अधिक नहीं माँगते थे, उनको ज्यादा भेजने की आवश्यकता भी नहीं थी।

कुमार देसाई का विद्याभ्यास समाप्त हो जाने के बाद भी राजा ने आचार्य से वहीं बने रहने की प्रार्थना की। राजभवन से सम्बन्धित अन्य लोगों के बच्चों को भी पढ़ाने का निवेदन किया। जिस प्रकार राजकुमार की पढ़ाई के समय आचार्य जी के खाने-पीने की व्यवस्था थी, वही आगे भी जारी रही। इस प्रकार आचार्य जी एक शाला के आचार्य बन गये। उनका निवास राजमहल का ही एक अंग बन गया।

राजा के मरने के बाद राजकुमार गद्दी पर बैठा। उसने भी आचार्य के प्रति पिता से बढ़कर श्रद्धा और भक्ति दिखाई। उसने अपने शिक्षा-गुरु आचार्य को और भी ऊँचा स्थान दिया।

एक दिन आचार्य के घर के एक सेवक ने आकर बताया कि आचार्य के यहाँ कुछ अतिथि आये हैं और उनके लिए आवश्यक भोज्य सामग्री चाहिए। वह भेज दी गयी। यह देखकर नये राजा ने सोचा कि यह बात ठीक नहीं। ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि गुरुजी को नित्य इस प्रकार माँगना न पड़े। वह गुरुजी से इस बारे में बात करना चाहता था। वह उसके लिए अवसर देखने लगा।

आगे भी दो बार इसी तरह हुआ। तब उसने अपनी माँ से अपने मन की बात कही। माँ बोली, "बेटा, तुम्हारे पिताजी के मन में भी यह बात उठी थी। उन्होंने भी आचार्यजी से उसकी चर्चा की थी पर आचार्यजी के मना कर देने पर वे चुप रह गये। अब तुम्हीं पूछ लो। इसमें कोई गलती नहीं है, पर जोर नहीं देना। मुझे लगता है कि एक दिन के लिए जितनी सामग्री चाहिए उससे अधिक वे अपने घर में रखना नहीं चाहते। यह उनका नियम होगा।"

और एक बार आचार्य के घर से अतिथियों के लिए सामग्री मँगवाने का प्रसंग आया। तब अवसर देखकर नये राजा ने आचार्य जी से कहा—

"आप मेरे गुरु हैं। मेरे पिता के समान हैं। आप जैसे बुजुर्ग का हमारे यहाँ रहना ही हमारा एक सौभाग्य है। परन्तु आपकी असहाय स्थिति देखकर मुझे दुख होता है। राजमहल की समृद्धि का लाभ आपके यहाँ भी पहुँचना चाहिए। आप इसे स्वीकार कीजिए।"

आचार्य बोले, "यदि आपकी इच्छा है कि राजमहल की समृद्धि का लाभ हमें भी हो तो यही व्यवस्था चलने दीजिए। दूसरी कोई भी व्यवस्था इससे बढ़िया नहीं होगी।"

तब नये राजा ने कहा, "भगवान् की कृपा से हमारे पास बहुत जमीन है। यदि आप स्वीकार करें तो आपके नाम पर कुछ जमीन लिख देता हूँ। जिस प्रकार धान्य महल में पहुँच जाता है उसी प्रकार आपके यहाँ भी पहुँच जाएगा। उसका उपयोग आपके घर के लोग जैसा चाहेंगे कर सकेंगे। सुबह उठते ही पाव-आध-पाव के लिए आदमी भेजने से छुटकारा मिल जाएगा।"

आचार्य "मेरा घर मेरे आचार-विचार के लिए है, पूजा-भजन के लिए है। यही मेरा कार्य है। मेरे खाने की व्यवस्था करना राजमहल का कर्त्तव्य है। आपका भंडार ही मेरा भंडार है। मुझे किसी बात की कमी नहीं।"

राजा : "पर घर इतना खाली क्यों रहे कि जब तक मँगवाया न जाय, काम ही न चले।"

आचार्य : "ये बातें मैंने आपके पिताजी से निवेदन कर दी थीं, उन्होंने मान ली थी। यदि आप चाहते है तो वही बातें दोहरा देता हूँ।"

"आज्ञा कीजिए ताकि मुझे भी पता चले।"

आचार्य बोले, "देखिए महाराज, मैं वैदिक ब्राह्मण हूँ। मेरा एक आदर्श है। वह क्या है ? प्रत्येक दिन का भोजन उसी दिन आना चाहिए, उससे अधिक घर में नहीं रहना चाहिए। यह आदर्श कभी हमारे पुरखों ने बनाया था। वह चल नहीं सकेगा, सोचकर सबने छोड़ दिया। मेरा सौभाग्य है कि जब आपके पिताजी ने मुझे यहाँ नियुक्त किया तो उन्होंने मेरे इस नियम को स्वीकार कर लिया। तब से यही एक नियम बन गया। मैंने बेखटके जीवन चलाया। यदि आप चाहें तो मेरा विश्वास चलता रहेगा। यदि नहीं चाहेंगे तो यह बिगड़ जाएगा और कई बातों में दुख उत्पन्न हो जाएगा।"

"कैसा दुख ?"

"देखिए, अब मुझे भोजन की कोई चिन्ता नहीं। राजमहल में लक्ष्मी नृत्य करती है। मेरा घर उसी का एक अंग है। मान लीजिए आपने जमीन दी। आप आज जितनी सामग्री भेजते हैं उससे चौगुना धान्य आ सकता है, मगर दूसरी चीजों की व्यवस्था ? मान लीजिए उसके लिए भी आप जमीन दे देंगे, तो उस सब की देख-भाल करनी होगी। कौन देखभाल करेगा ? आपके आदमी ही उसकी देखभाल करेंगे। तो महल की भूमि ज्यादा हुई और थोड़ी गुरु की जमीन हुई। इस प्रकार एक से दो भाँति की भूमि हो गयी। मेरी सुविधा बढ़ी नहीं आपका काम कम नहीं हुआ।"

"आप ठीक कहते हैं।"

"मान लीजिए एक वर्ष वर्षा नही हुई। तब भी मैं निश्चिन्त रहूँगा। जो राजमहल का होगा वही मेरा होगा। यदि मेरी ज़मीन अलग हो गयी तो फसल न होने से चिन्ता होगी। फिर राजमहल को कहलाना पड़ेगा। मेरा माँगना बन्द नही होगा। आपका देना बन्द नही होगा।" आचार्य आगे बोले—

"खेती भी यूँ ही नही हो जाती। अनाज आसानी से यूँ ही घर नही पहुँच जाता। अब यह सब आपके आदमियो के जिम्मे है। जब मेरी ज़मीन अलग हो जाएगी तब उसकी फसल से सम्बन्धित कुछ बातें उठेंगी। वह सब ठीक कराने को मुझे आपसे ही कहना होगा। आपके पटवारी, मुखिया और कारकुन को ही इस काम को देखना पड़ेगा। तब मुझे उसकी चिन्ता करनी पड़ेगी। मुझे लौकिक गृहस्थ बनना पड़ेगा। खेती-बाड़ी करने वालों से झगड़ना होगा। यह सब हो जाने पर गुरु का गुरुत्व ही जाता रहेगा। तब मैं केवल नाम-भर का गुरु रह जाऊँगा और व्यवहार मे साधारण गृहस्थ।"

"हाँ, यह बात भी ठीक है।"

"अनाज आने पर थोथे और भूसी का टंटा! सूखने पर घटने की चिन्ता। कितना अनाज दिया, कितना आटा आया, कितना धान दिया और कितना चावल आया। इन सबका लेखा-जोखा रखना पड़ता है। मुझे इसका अनुभव नहीं है। मुझे चीखना-चिल्लाना पड़ेगा। घर मे यह सब कुछ रहे तो क्या वेदो का चिन्तन सम्भव है?"

"आपका यह कहना भी सच है।"

"अन्त मे एक और भी बात है जो मज़ाक जैसी दीखती है, पर मज़ाक है नही। अब आपके भंडार मे बेहिसाब चूहे-छछुन्दर खाते जाते हैं! वह कितना है, मेरा उससे कोई सम्बन्ध नही। मान लीजिए सम्बन्ध हो गया। मैं भी उन खाने वालों का हिस्सेदार हो जाऊँगा। अब हम आपके साथ आपकी सम्पत्ति का उपभोग कर रहे हैं। यानी अब हम और वे एक साथ हैं। आपका पक्ष दूसरा है। धरती मेरी होगी, अनाज घर आयेगा। अनाज के घर आते ही उसके बँटवारे की बात उठेगी। तब चूहे और मैं प्रतिपक्षी हो जाएँगे। आपके सेवक जो कुछ चूहों के लिए उपचार करते है, वह मुझे करना होगा। महल में यह सब करना पड़ता है और कोई चारा नही। गुरु के घर मे यह सब क्यों?"

राजा ने हँसकर कहा, "मान गया गुरुजी, आपकी ही व्यवस्था ठीक है, उसे ही चलने दीजिए।"

आचार्य बोले, "बड़ी प्रसन्नता हुई महाराज। मुझे यह विश्वास था कि आप मान लेंगे। इसीलिए ये सब बातें आपसे कहीं। इसके अतिरिक्त एक और लाभ है जिसे खो देने की मुझे तनिक भी इच्छा नही।"

"वह क्या, आज्ञा कीजिए।"

"देखिए भैया, अब आप जब भोजन करने बैठते है तब अपने सेवकों से पूछते हैं कि आचार्य के यहाँ भोजन गया कि नही। प्रतिदिन न भी पूछे, सप्ताह मे एक दो बार तो अवश्य ही पूछ लेते हैं। क्यों, पूछते हैं कि नहीं ?"

"जी हाँ। क्या आपको पता है ?"

"पता है, आपके लोग बताते है। कभी-कभी वे लोग यह भी कहते हैं कि मैं आपको बता दूँ कि मेरी देखभाल ठीक से हो रही है। यानी महाराज कभी-कभी हमारे बारे मे सोचते हैं। हम उनके प्रिय है, यह हमें निश्चित रूप से पता है। एक और भी बात है। रोज भोजन सामग्री आने से मेरे मन में यह बात बनी रहती है कि राजमहल से मेरा घर चलता है। मैं उसका अन्न खाता हूँ। इसलिए मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि मेरी ऐसी देखभाल करने वाला घर सुखी रहे। इससे मेरा अहंकार भी जाता रहता है। मेरा मन निर्मल हो जाता है। धरती मेरी है, अनाज मेरा है, वर्ष मे इतना आता है; अगर ये प्रबन्ध हो जाएँ तो आप हमे भूल जाएँगे। आपका मन और आँखें हमारी ओर घूमेंगी ही नही।"

"यह कैसे सम्भव है ?"

"मान लीजिए ऐसा न भी हो! आप सज्जन हैं, ऐसा नही होगा। पर मैं ? मेरे घर के लोग ? हम अपना अन्न खाते हैं। इनसे हमे क्या लेना-देना, इस प्रकार उपेक्षा कर सकते है। अन्न देने वाले हाथो को ही हम यदि भूल जाएँ तो किसका भला होगा। मनुष्य चाहे जैसे भी जी सकता है पर घमण्डी होकर जी नही सकता। उसमें भी यदि ब्राह्मण घमण्डी हो जाय तो चांडाल हो जाता है। उसकी दुर्गति हो जाएगी। उसके पितरो को स्वर्ग से गिरना होगा।"

"हे राम।"

"इसलिए देखिए, आपके पिता जी ने मेरी बात मान ली थी। आप उन्हीं की व्यवस्था जारी रहने दीजिए। मैं आपका बनकर रहूँगा। आपका नाम लेकर रोज भगवान् से प्रार्थना करूँगा। आप भी मुझे अपना समझकर रोज मेरी चिन्ता करेंगे। गीता मे कहा गया है—परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।"

राजा ने गुरु की बात मान ली। आचार्य ने आजीवन अकिंचन-व्रत का पालन किया।

(प्रकाशन वर्ष : 1965)

अर्वाचीन आँग्ल शकुन्तला

कुछ मास पूर्व इंग्लैंड में घटी एक घटना समाचारपत्र में पढ़ी थी। वह घटना कुछ इस प्रकार है, नाम काल्पनिक हैं।

एक गाँव में विलसन नाम के गृहस्थ रहते थे। वे बूढ़े हो चुके थे। उनकी पत्नी की भी काफी आयु हो चली थी। उनका एक पुत्र था जिसका नाम लयोनिल था। उनका परिवार बस इतना ही था। पिता ने किसी व्यवसाय में काफ़ी दिन काम किया और बूढ़े हो जाने पर विश्रान्ति के विचार से अपनी जवानी की कमाई बैंक में जमा करके उसके ब्याज से जीवनयापन करने लगे। उन्हे गृहस्थी चलाने में कोई दिक्कत न थी।

लयोनिल वैसे तो अच्छा लडका था पर उसकी पढ़ाई-लिखाई ज्यादा आगे नही चल पाई। पिता की इच्छा थी कि वह अपनी पसन्द का कोई काम सीखकर आगे जीवन चलाने लगे। उसने काम की खोज भी की पर उसे कोई सफलता न मिली। वह माता-पिता के साथ ही जीवन काटने लगा।

एक दिन वह काम खोजने को जो निकला तो बहुत दिन तक लौटा ही नहीं। यह उसकी आदत थी। माता-पिता ने सोचा काम खोजने गया है, आ जाएगा।

छः मास बीत गये। एक दिन पिता घर के आँगन में आराम कुर्सी पर बैठा था। माँ घर के लिए कुछ सौदा लाने बाज़ार गयी थी। तभी एक तरुणी एक शिशु को गोद में लिये उस वृद्ध के सम्मुख आ खड़ी हुई।

वृद्ध ने सिर उठाकर देखा। वह तरुणी परिचित नहीं

थी। 'यह कौन है ? इसके हाथ में क्या है ? ओह एक बच्चा है।'

वह जब इस प्रकार सोच ही रहा था तब वह लड़की समीप आकर बोली, "नमस्ते बाबा जी।"

"नमस्ते।"

"आप मुझे नहीं जानते। मैं जैनी हूँ। पास ही के एक गाँव के जोन्स दम्पति की बेटी हूँ। यह मेरा तीन मास का बच्चा है। मैं इसे आपको दिखाने के लिए लायी हूँ।"

वृद्ध को बात का सिर-पैर ही समझ में नहीं आया। पड़ौस के गाँव के जोन्स दम्पति की बेटी, अपना बच्चा भला मुझे क्यों दिखाने लायी है ? उसने उस युवती की ओर ऐसे देखा मानो पूछना चाहता हो कि तुम्हारा क्या मतलब है ?

उस तरुणी ने अपना बच्चा उसके सामने करते हुए पूछा, "क्या आप बता सकते हैं कि इस बच्चे की सूरत किसके जैसी है ?"

उसका प्रश्न कान में पड़ते ही बूढ़े के मुँह से निकला, "अरे ! इसकी तो एकदम हमारे लयोनिल की जैसी सूरत है ?"

"अच्छा ! आप इसे पहचान लेंगे, मुझे यह विश्वास था। मैंने आपके पोते को जन्म दिया, इसलिए आपका स्नेह मुझे मिलेगा ही।"

"ठीक है। तुमने मेरे पोते को जन्म दिया पर मुझे इस बात का पता नहीं है। अब तुम मुझसे क्या चाहती हो ?"

"देखिए बाबा जी, साल पहले की बात है। पड़ौस के गाँव में घोड़ों की रेस देखने वालों की भीड़ में मैं खड़ी थी। मेरे पास ही लयोनिल खड़ा था। मेरा परिचय उससे नहीं था। मैं भी उसे नहीं जानती थी। शायद मैं उसे अच्छी लगी हूँगी। उसने पाँच-छः बार मेरी ओर देखा। लयोनिल सुन्दर है। मेरा भी उसे देखने का मन हुआ। जब उसने फिर मेरी ओर देखा तो मैंने उससे पूछा, 'तुम कौन हो ? कहाँ रहते हो ?' उसने अपना परिचय दिया। हमारी दोस्ती हो गयी। कुछ दिन बीत गये। एक दिन जब मैं अपने घर में अकेली थी, वह आया और बोला, 'चलो जरा घूम आयें'। उसका आना मुझे बड़ा अच्छा लगा। मैंने कहा, 'चलती हूँ। मेरी माँ पास ही के घर से धोने को कपड़े लाने गयी है। उसके आते ही चलेंगे।' अरे हाँ ! मैंने आपको बताया ही नहीं। मेरे पिताजी बटायी पर खेती करते हैं। माँ कुछ अमीर घरों के कपड़े धोकर, इस्त्री करके देती है। इस प्रकार हम चार पैसे कमा लेते हैं। मैं भी माँ के साथ काम करती हूँ। कुछ देर में माँ आ गयी। उससे पूछकर मैं लयोनिल के साथ घूमने गयी। कुछ देर हम पेड़ों की छाया में घूम-घाम कर लौटे। इसी प्रकार चार-पाँच बार हुआ।

"बाद में लयोनिल ने कहा, 'चलो हम एक साथ रहें।' मैंने कहा 'ठीक है। पर हम दोनों को शादी कर लेनी चाहिए न !' तब वह बोला, 'करूँगा। बिना

-शादी के तुम्हें खराब करके भाग जाने का मेरा विचार नही है। हम एक साथ रहेंगे। काम मिल जाएगा। तब तक भला अलग-अलग क्यों रहें ? समझ लो शादी हो गयी। अब साथ रहे।'

"उसने धोखा देने का विचार नही किया था। मैंने भी धोखा नही खाया। मैंने सोचा, शादी तो कर ही लेगा, फिर चार दिन पहले से ही साथ रहने में क्या दोष है। मैं मान गयी।

"हम दोनों साथ रहे। तीन महीने बीत गये। मुझे लगा कि मैं माँ बनने जा रही हूँ। मुझे इस बात की शंका थी ही, फिर भी यह नही सोचा था कि यह इतनी जल्दी हो जाएगा। मैंने लयोनिल से कहा, 'देखो, बिना ब्याह के साथ रहना ठीक नही हुआ। अब जल्दी-जल्दी शादी कर लो। मेरा बच्चा नाजायज़ नही कहलाना चाहिए।'

"लयोनिल ने कहा, 'कर लेता हूँ, थोड़ा ठहरो।' और तीन महीने बीत गये। लयोनिल ने कहा, 'आस-पास कोई काम नही मिला। किसी बड़े शहर में जा कर अच्छी नौकरी के लिए कोशिश करता हूँ।' और वह मुझ से यह कहकर चला गया। उसके जाने के तीन महीने बाद मैंने इस बच्चे को जन्म दिया। माँ-बाप ने डांटा नही। वे बोले, 'लड़के ने भरोसा दिया, तुम मान गयी। इसमें कोई गलती नही। अब बच्चे की देख-भाल करनी है। हम तीनों के मेहनत करने पर तो मुश्किल से घर चल पाता है। बच्चे की देख-रेख करने के लिए तुम घर में ही रहोगी तो आमदनी घट जाएगी। बच्चे की देखभाल कोई आसान काम नही। जाकर लयोनिल के पिता से कहो। अगर वे कुछ प्रबन्ध कर सकें तो तुम्हारा जीवन सरल हो जाएगा।'

"बात ठीक लगी। तभी मैं यहाँ आयी हूँ। लयोनिल के जाने के एक मास बाद मैं इस तरफ़ आयी थी और लोगो से पूछताछ कर आपके घर का पता लगा लिया था। आपको और माँ जी को दूर से देखा था। मुझे आप दोनों अच्छे लगे। मैंने सोचा, 'आप मुझे सहारा देंगे।' अब बच्चे को आपके पास ले आयी हूँ। अब आप क्या कहते हैं ?"

जब ये बातें हो रही थी, घर की मालकिन आ गयी। बच्चे को देखते ही उसने पूछा, "यह तो हमारे लयोनिल का बेटा-सा दीखता है। तुम कौन हो बेटी ? क्या उसने तुमसे शादी कर ली ?"

वह बोली, "यह लयोनिल का बेटा तो है। उसने कहा भी था कि शादी कर लूँगा पर हुई नही। मेरे माता-पिता मेरी और बच्चे की देखभाल कर सकने की स्थिति में नहीं हैं। मैं यह पूछने आयी हूँ कि क्या आप कुछ मदद कर पायेंगे ?"

वृद्ध ने पूछा, "बेटी, शादी हुई हो या नहीं, यह मेरा पोता तो है ही ! अगर तुम चाहती हो कि मैं इसकी देखभाल करूँ तो मैं ...

घरवाली भी यही चाहेगी कि हमारा पोता हमारे घर में रहे। बच्चे की देख-भाल के लिए तुम्हें भी रहना पडेगा। हमें खुशी होगी। अगर तुम यह सोचती हो कि बिना शादी के कैसे बहू बनूं, तो न सही। अपने माँ-बाप के घर में रहो। जब जी चाहे आकर बच्चे को देख जाना। अगर भाग्य अच्छा हुआ और मेरा बेटा भी कोई काम खोजकर वापस लौट आया तो बच्चे को ले जाना और उसके साथ खुशी-खुशी जीवन बिताना।"

जब तब दादी-पोते को गोदी में लेकर खिलाने लगी और प्यार करने लगी। एक बार ऐसा लगा कि बच्चा हँस पडा है। तब दादी बोली, "अरे देखो तो ऐसा लगता है जैसे लयोनिल फिर छोटा बच्चा बनकर हँस रहा है।"

दादा बोला, "हाँ, बच्चे की भौहें, होठ, गाल, हाथ-पाँव की उँगलियाँ सब के सब एकदम वैसे ही तो हैं।"

जैनी बोली, "यह बात है, बाबा! सचमुच जरा देखिए तो एकदम लयोनिल जैसा ही है। एकदम उसी की तस्वीर है।"

"मैं अपने माता-पिता के साथ रहूँगी। आप लोग बच्चे की देखभाल कीजिए, मैं हफ्ते में दो-तीन बार आकर बच्चे को देख जाऊँगी। आपको किसी सहायता की जरूरत पडे तो जरूर कहूँगी।" यह कह जैनी अपने मायके चली गयी।

बच्चे का मुख, आँखे, होठ, गाल और उँगलियाँ तक बेटे के साथ मिलने पर उन दादा-दादी ने बच्चे को स्वीकार कर लिया। यदि ऐसा न होता तो क्या वे स्वीकार कर लेते? कहा नहीं जा सकता। यह जानने पर कि बच्चा एकदम बाप पर पडा था मुझे अपने देश की शकुन्तला की कहानी याद आयी। उसने दुष्यन्त से कहा था—"बच्चे को देखिए। यह आपका पुत्र है। यह स्पष्ट हो रहा है। हाथ-पाँव की उँगलियाँ एकदम आपकी जैसी हैं।" उस शकुन्तला की कहानी में दुष्यन्त के पिता नहीं थे। यह दुर्भाग्य की बात थी। केवल दुष्यन्त था। उसने लडकी की बात नहीं मानी। जैनी का भाग्य अच्छा था। यहाँ दुष्यन्त नहीं था। उसके पिता थे। उस शिशु को उन्होंने पोते के रूप स्वीकार कर लिया।

(प्रकाशन वर्ष : 1979)

आचारनिष्ठ अय्यंगार

एक दिन राय साहब ने अपनी आँखों देखी एक घटना सुनाई।

मैं प्रातः जब टहलने जाता था तब हमारे घर के सामने से अक्सर एक स्त्री हाथ में एक थैला थामे किसी काम पर जाती दिखाई देती। वह ढलती आयु की थी पर उसके मुख पर आयु के ऐसे चिह्न दिखाई नहीं देते थे। वह देखने में सुन्दर थी। उसके माथे पर सिन्दूर नहीं था। मैं सोचता कोई विधवा होगी, पेट भरने के लिए कहीं काम करती होगी।

एक दिन मैं अपने एक मित्र के यहाँ पत्नी सहित जा रहा था। वह स्त्री भी हमारे घर के सामने से गुज़र रही थी। मेरी पत्नी को देखकर उसने नमस्कार किया। मैं भी साथ था, शायद इसीलिए उसने मुझे भी नमस्कार किया। वह अपने काम पर चली गयी।

चार कदम चलने के बाद मैंने अपनी पत्नी से कहा, "हफ़्ते में एक-दो बार यह मुझे इसी तरह दिखाई दे जाती है। लगता है कि यह तुमसे परिचित है। इसकी माँग में सिन्दूर नहीं है, शायद इसका पति नहीं है।"

मेरी पत्नी बोली, "यह तो क्रिश्चियन है। शायद विवाह नहीं किया है। यह हमारे पीछे वाली गली में ही रहती है। यह यहीं वसवगुडी के पास के एक अस्पताल में नर्स है।"

"तुम्हें यह कहाँ मिल गयी ?"

"कुछ दिन पहले लक्ष्मम्मा का बच्चा बहुत बीमार

हो गया था। तब डॉक्टर ने कहा था कि कुछ दिन को एक नर्स रख लेना अच्छा होगा। उन्होने ही इसे उसके यहाँ भेजा था। वही एक दिन इससे भेंट हुई थी।"

"ओह ! यह बात है। ये लोग अक्सर बडी श्रद्धा से काम करते हैं।"

"हाँ, यह सही है। लक्ष्मम्मा को भी यह बहुत पसन्द आयी। उसने बताया था कि यह रात भर बिना पलक झपकाए बच्चे की देखभाल करती रही।"

"तब तो इसकी अच्छी आमदनी होगी ?"

"हो सकता है। डॉक्टर भी अच्छा वेतन दे रहे हैं। ऐसे मौको पर रोगी के घर के लोग दस-पन्द्रह रुपये रोज से ज्यादा ही देते हैं।"

हमारी पिछली गली मे रहने वाली इस स्त्री के बारे मे मुझे बाद में एक-दो बातें पता चली। इसके साथ उस घर मे एक अय्यंगार भी रहता है। घर मे और कोई नही रहता। रसोई बनाने का काम अय्यंगार ही करते हैं। यह देखकर कुछ लोगों ने समझा कि उसने अय्यंगार को रसोई के काम के लिए रख रखा है। एक क्रिश्चियन स्त्री को एक अय्यंगार को भला रसोई के लिए क्यो रखना चाहिए ? शायद यह पहले अय्यंगार रही होगी और बाद में क्रिश्चियन हो गयी होगी। ऐसे लोग ईसाई होने पर भी अपनी पुरानी चाल छोड नही पाते। शायद यह भी ऐसा ही होगा।

किसी से बात करते हुए उस स्त्री ने बताया कि वह अय्यंगार उसके पति हैं। तब पता चला कि वे लोग पति-पत्नी के रूप में रहते हैं।

बाद मे किसी बात के सिलसिले में मेरी पत्नी ने यह बात मुझे बताई।

एक और दिन जब मैं सुबह घूमने निकला तो पिछली गली में एक घर के द्वार पर एक अय्यंगार खडे थे। ये ही हमारी उस नर्स के पति होगे ! उन्हे मैंने कभी नही देखा था फिर भी उन्होने मुझे नमस्कार किया। मैं प्रति-नमस्कार करके आगे बढ गया।

उन्होने इसलिए नमस्कार नहीं किया था कि मेरा उनका कोई परिचय था। उन्होने शायद इसलिए किया होगा कि मैं उनके पड़ोस में रहने वाला एक बुजुर्ग हूँ। यदि वे ही अय्यंगार हैं तो उस नर्स ने उन्हें हमारे बारे में बताया होगा। मैंने तो उन्हे देखा नही था फिर भी वे मुझे जानते थे।

इस प्रकार हम पड़ोस मे रहते हुए एक दूसरे को जानने लगे। हमारा और कोई विशेष सम्बन्ध नही था। ऐसे थोड़े परिचय में जीवन के कुछ वर्ष ऐसे ही सरक गये।

एक प्रातः मैं अभी घर से निकला नही था, कोई दस मिनट मे निकलने को ही था कि तभी यह स्त्री हमारे घर के सामने दिखाई दी। मैं दरवाजे के सामने खडा था। मैंने सिर उठाकर उसकी ओर देखा। उसने मुझे नमस्कार किया। मैंने भी हाथ जोड़े।

वह बोली, "मैं जरा आपसे बात करने आयी हूँ। भीतर आ सकती हूँ ?"

"अरे रे ! आइए, आइए ! क्या भीतर आने के लिए भी पूछना पड़ता है ?"

वह दरवाजा खोलकर भीतर आयी। पास आने पर मैंने पूछा, "कैसे आना हुआ, बहिन ?"

उसकी आँखें भरी हुई थी। चेहरे पर दुख की छाया थी। फिर भी स्त्री हिम्मती थी। उसने अपने दुख को वश में कर रखा था। उसने कहा, "मेरे पति दस दिन से बुखार में पड़े थे। आज सुबह चल बसे। वे अय्यंगार थे। बड़े आचारनिष्ठ थे। अन्तिम समय तक आचार-विचार से रहे। उन्होने मुझे आज्ञा दी थी कि उनका सारा अन्तिम संस्कार वैष्णव विधि से कराऊँ। मैंने वचन दिया था। अब उस काम के लिए मेरा जाकर किसी को बुलाना ठीक न होगा। मुझे वे लोग मना भी कर सकते हैं। कृपा करके आप मेरे पति की अन्तिम इच्छा पूरी करने में मेरी सहायता कीजिए।"

मैंने कहा, "बहिन, इस काम में पहले ही जरा सतर्कता बरतनी चाहिए थी न ! उनके जाने के बाद आयी हो।"

"मैंने पहले आने की बात सोची थी। पर उन्होने कहा था कि 'बेकार तंग न करो, जब जरूरत पड़े तभी जाना। जाकर पूछो, वे बहुत बड़े आदमी हैं। जरूर मदद करेंगे।' वैसे मैंने कभी भी उनकी कोई बात नही टाली थी। उन्होने मुझे बहुत अच्छी तरह रखा। विवाह की रस्म न होने पर भी एक विवाहित पति-पत्नी भी जितने प्रेम से नही रहते उससे भी अधिक प्रेम से हम लोग साथ रहे। मेरा भाग्य यही तक था। आज खत्म हो गया। अब तो केवल उनका संस्कार करना बाकी बचा है।"

यह कहते-कहते वह अपने को रोक न सकी और बिलख पड़ी, पर साथ ही उसने स्वयं को सम्भाल भी लिया।

इतने में मेरी पत्नी बाहर आकर मेरे पीछे खड़ी हो गयी। उसकी बात सुनकर वह समझ गयी कि उसके पति गुजर गये हैं। उसकी बात समाप्त होने के बाद मेरी पत्नी ने उससे पूछा, "उन्हें क्या हो गया था ?"

"उन्होंने दस दिन पहले बताया था कि उन्हें बुखार है। पर रोज की तरह खाना बनाया, मुझे खाना देकर स्वयं भी खाना खाया। मैंने कहा, 'तुम कह रहे थे बुखार है फिर खाना बनाने की क्या जरूरत थी ? इससे बुखार बढ जाएगा। होटल से खाना मंगा लेते। आप जरा आराम कीजिए।' पर उन्होंने मेरी बात नही मानी। वे बोले, 'इतने से बुखार से क्या डरना है ? यूँ ही आया है, यूँ ही चला जाएगा।' मैंने समझाया, 'चला तो जाएगा, पर डॉक्टर से पूछकर दवा ले आती हूँ, ले लीजिए।' इस पर कहने लगे, 'हम लोग छोटी-मोटी बीमारी को बड़ा बनाकर सुख लूटने योग्य भाग्यशाली नही हैं। डॉक्टर और दवा बंगलोर में यूँ ही आ जाते हैं। मैं

बोली, 'ऐसा क्या खर्च हो जाएगा—दस-बीस, बहुत हुआ तो तीस रुपये खर्च हो जाएँगे। आप काहे को फ़िक्र करते हैं, मेरे पास पैसे हैं।' पर वे बड़े हठी थे। बोले, 'तुम तो खर्च करने को तैयार हो पर खर्च कराने को मैं तैयार नहीं।' वे जिद के पक्के थे। नाक की सीध में ही चलते थे। पता नहीं कितना बुखार हुआ और कब उतर गया। मुझे तो यह भी पता नहीं कि बुखार था भी या नहीं। कल रात तक भी खाना पकाया। मुझे खाना दिया। उन्होंने भी खाया होगा। रात को अच्छी तरह सोये। सुबह तक सब समाप्त हो गया। प्रातः उठे क्यों नहीं? पास जाकर देखा तो पता चला।

"पहले एक बार जब बीमार पड़े थे तब कहा था 'अगर मुझे कुछ हो जाए तो तुम मेरी जाति के तिलकधारियों को बुलाकर मेरा संस्कार करा देना।' मैंने कह दिया था 'करा दूँगी'। 'करा दूँगी कह देना काफ़ी नहीं, वचन दो', उन्होंने कहा था। तब मैंने कहा था, 'वचन दिया'। फिर हाथ पसारकर बोले थे, 'हाथ पर हाथ रख-कर वचन दो,' मैंने हाथ पर हाथ रखा। तब तो वह मजाक की बात थी। वे हँस दिये। पर मैं हँस नहीं सकी। ऐसी बुरी बातें मर्दों के लिए मजाक हो सकती हैं, औरतों के लिए नहीं। मैं उनकी विवाहिता तो नहीं थी फिर भी भगवान् से यही प्रार्थना किया करती थी कि उनकी आँखों के सामने ही मैं चली जाऊँ। भगवान् ने यह होने नहीं दिया। अब मुझे ही यह काम करना है। आप कृपा करके मेरी इस काम में मदद कीजिए।"

उसकी बात सुनते हुए मुझे यह लगा कि कैसी विचित्र बात है! इस स्त्री जाति में अपने पति के प्रति कितना अभिमान होता है। मेरी दो पत्नियाँ गुज़र गयीं, यह तीसरा विवाह है। पहले वालियाँ भी ऐसी ही थीं, तीसरी भी ऐसी ही है। यह स्त्री भी यही बात कह रही है। विवाह नहीं हुआ पर विवाहिता से ज़रा भी कम नहीं। अपना पति सुखी रहना चाहिए। अपने पति की इच्छा पूरी करनी चाहिए। यह उसकी इच्छा है।

तभी मेरी पत्नी बोली, "श्रीवैष्णवों की ज़रूरत है न? अब कहाँ जाइएगा?" मैंने कहा, "दो महीने पहले क्लब में साहूकार गुरुडाचार से ऐसे ही कुछ बात चल रही थी। उन्होंने बताया था कि उन्होंने एक निधि बनाई है जो ऐसे मौक़ों पर लोगों की मदद करती है। 'तुलसी तोट' के मन्दिर के पुजारी जी से कह दिया जाय तो इसका प्रबन्ध कर देते हैं। वहीं जाकर देखता हूँ कि क्या हो सकता है!"

वह बोली, "यही ठीक दीखता है। मुझे भी याद है कि उन्होंने एक बार इस बात का जिकर भी किया था।"

'किसी दूसरे को भेजने से उन लोगों के आने में देर हो सकती है। हम यहाँ उनकी प्रतीक्षा में क्यों सूखते रहें? यह सोचकर मैं तुरन्त मन्दिर की ओर चल

पड़ा। भगवान् की कृपा थी। मन्दिर पहुँचते ही गुरुडाचार ही सामने पड़े। सारा काम आसान हो गया। 'तुलसी तोट के अग्रहार' श्री वैष्णव जाति के चार वाहक और एक पुरोहित पन्द्रह मिनट मे ही आ पहुँचे। पुरोहित के हाथ में पैसे देकर संस्कार के लिए ज़रूरी सामान लाने भेज दिया। उन चार वाहकों के साथ मैं लौट आया। पौन घण्टे में पुरोहित जी भी आ पहुँचे। सारे संस्कार इतने अच्छे हुए कि यदि वह मरने वाला जिन्दा होता तो तृप्त हो जाता। वैसे मेरे वहाँ जाने की आवश्यकता न थी पर क्योंकि उस स्त्री को वहाँ जाना था और मेरी पत्नी भी उसके साथ जाने को तैयार थी अतः हम तीनों श्मशान गये। अन्तिम संस्कार विधिवत् होने के बाद तालाब में स्नान करके वापस लौटे।

तेरह दिन सारे संस्कार शास्त्रोक्त विधि से चले। तेरहवें दिन वैकुण्ठ समाराधना (तेरहवीं) हुई। आगे से कभी श्राद्ध और कर्म करने की आवश्यकता न पडे ऐसा एक होम भी होता है। वह भी सम्पन्न कर दिया गया।

उसने कहा, "आपने बहुत कृपा करके मेरे सारे काम पूरे करा दिये। आपका आभार व्यक्त करने को मेरे पास शब्द नहीं हैं।"

मैंने कहा, "आपकी यह इच्छा कि आपके पति की आत्मा तृप्त रहे; यह बहुत ही अच्छी बात है। उसको पूरा करने के लिए आपको किसी न किसी की सहायता की आवश्यकता थी ही। उस सहायता करने का पुण्य मुझे मिला। उसे आप उपकार मत मानिए। आप यह समझिए कि आपने मुझे एक अच्छे आदमी की अन्तिम इच्छा पूरी करने का अवसर दिया।"

कुछ दिन बाद जब वह हमारे घर आयी तब उसने मेरी पत्नी से अपने और अपने पति के परिचय और स्नेह के बारे में बताया।

"हमारे जिले के बड़े शहर मे एक अस्पताल है। वे उसमें एक क्लर्क थे। यह उसी अस्पताल में नर्स थी। वे विवाहित थे पर बच्चे नहीं थे। उनकी अधेड़ आयु होने पर उनकी पत्नी गुज़र गयी। मैं नर्स थी। अपने काम की ज़रूरत की दवा और बिस्तर आदि लेने के लिए उनसे बात हुआ ही करती थी। मैं ईसाईथी। उन्हे मालूम था कि मैं अविवाहित हूँ। पत्नी के गुज़र जाने के एक वर्ष बाद एक दिन मैंने उनसे पूछा, 'आपकी पत्नी को गुज़रे एक वर्ष हो गया। क्या यूँ ही अकेले रहिएगा? दूसरी शादी क्यों नहीं कर लेते? सुना है आप अपना खाना वगैरा भी खुद ही बनाते हैं।'

"उन्होंने कहा, 'दूसरी शादी करने को मुझे लड़की कौन देगा?'

"मैंने पूछा, 'क्या इसलिए कि आपकी उमर ज़्यादा हो चली है?'

"उन्होंने 'हाँ यह भी बात है।' कहकर बात पलट दी। यूँ ही कुछ दिन गुज़र गये। बिना किसी खास उद्देश्य के केवल सहानुभूति की दो बातें करने को मैंने उनसे कहा, 'आपको अकेले देखकर मुझे बड़ी दया आती है।'

"उन्होंने कहा, 'अगर आपको मुझे अकेला देखना पसन्द नहीं तो क्या आप मेरे साथ रहने को तैयार हैं ?' मैंने इस प्रश्न की अपेक्षा नहीं की थी। पर मेरे मुख से सहज रूप से निकल गया, 'आप ब्राह्मण हैं। मैं ईसाई हूँ। क्या यह शादी हो सकती है ?'

"इस पर उन्होंने कह दिया, शादी भले ही न सही, साथ तो रह सकते हैं ! शादी से कौन-सी खास बात हो जाती है ? अगर नहीं हुई तो क्या चला जाता है ?—"

"क्षण-भर बाद मैंने कहा, यही सही।"

"बहिन मेरी भी उमर हो चली थी। तीस पार कर चुकी थी। गलत रास्ते पर नहीं गयी थी। हमारी जाति के किसी ने भी शादी का प्रस्ताव नहीं किया था। शादी करा देने को घर में कोई बड़ा-बूढ़ा भी नहीं था। 'इनके साथ रहने में क्या दोष है ? साथ रहने के बाद रजिस्टर्ड शादी कर सकते हैं।' यह सोचकर मैंने उनकी बात मान ली। मेरी सहमति देखकर वे भी तैयार हो गये। बहुत खुश हुए। बाद में बोले, 'तुम अस्पताल में नर्स हो। यह बात नहीं उठनी चाहिए कि मैंने तुम्हें खराब कर दिया। आज काम के बाद तुम मेरे साथ चलो। बड़े डॉक्टर के पास जाकर यह कहेंगे कि हम दोनों ने एक साथ रहने का निश्चय किया है। कोई हमारे खिलाफ शिकायत न करे इसलिए हम आपको पहले ही बताने और स्वीकृति लेने आये हैं। अगर आपकी सहमति हो तो कोई बात नहीं उठेगी।' मैं उनकी बात मान गयी। शाम को हम दोनों ने जाकर बड़े डॉक्टर से बात की। उन्होंने केवल यही नहीं कहा कि 'इसमें कोई दोष नहीं', बल्कि यह भी कहा, 'यह तो बहुत अच्छी बात है। सुख से रहो।' बड़े डॉक्टर बहुत सज्जन हैं। उनमें आपके पति की तरह ही गम्भीरता और बड़प्पन है।"

जब वह यह कह रही थी तभी मैं अपनी पत्नी से कुछ कहने को दरवाजे तक गया। उन दोनों की बातें सुनकर वहीं चुप खड़ा हो गया। तब मेरी पत्नी बोली, "सुशीलम्मा बता रही थी कि ये लोग कैसे पति-पत्नी बने। इनके अस्पताल के डॉक्टर ने इनके सम्बन्ध को बहुत पसन्द किया था। ये कह रही हैं वह डॉक्टर भी आप जैसे ही थे—स्वभाव से बड़े गम्भीर और उदार।"

मैं हँस पड़ा।

(प्रकाशन वर्ष : 1979)

श्री कृष्ण के अन्तिम दर्शन

श्री कृष्ण के कुल के युवकों के बीच एक छोटी-सी बात पर झगडा प्रारम्भ हुआ। वह झगड़ा इतना बढ़ा कि वे लोग एक दूसरे को मारते-मारते समाप्त हो गये। यह समाचार कुछ दिन बाद हस्तिनापुर पहुँचा। अपने परिवार के रक्षक, सज्जन श्री कृष्ण के परिवार मे ही ऐसी अनहोनी हो गयी यही सोचकर युधिष्ठिर को अत्यन्त दुख और आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे, 'ऐसी गुणी सन्तान और परम्परा वालो के बीच ही ऐसा अविवेक हो गया? यह कैसे हो गया? क्या बात हुई होगी? कृष्ण तो सज्जन व्यक्ति हैं? उनके बड़े भाई बलराम उन्ही के समान ही सज्जन हैं पर जरा राजसिक स्वभाव के हैं। मद्य उनकी दुर्बलता है। घर के बच्चे ताऊ के चरण-चिन्हों पर चले। श्री कृष्ण महापुरुष है। उनकी सत्कीर्ति उनका रक्षा कवच बन गयी। इस कारण लोगों ने उन्हे प्रकट रूप से दुत्कारा नही। बड़े भाई की चाल और छोटे भाई की सज्जनता ने वंश के बच्चो को विगाड़ दिया। बच्चे आयु मे बड़े हो गये पर स्वभाव से बचपना नहीं गया। विधि के लेखानुसार इस स्थिति के कारण उन्होंने अपना इतिहास स्वयं ही समाप्त कर डाला।

आपके परिवार में ऐसा अनर्थ हो गया और आपको इसका दुःख सहना पड़ा। आयु मे बड़े होने के नाते अब मुझे जाकर वहाँ अपने उस परम मित्र को इस बारे में सान्त्वना देनी चाहिए। युधिष्ठिर के मन में ऐसा विचार आया और उन्होंने श्रीकृष्ण से मिलने का निश्चय भी किया

पर तुरन्त मन में यह प्रश्न भी उठा, 'चला भी गया तो भी कृष्ण को सान्त्वना देने योग्य मेरे पास कौन सी बात है?' बहुत सोचने पर उन्हें यह बात कुछ स्पष्ट न हो पाई। कृष्ण एक महाज्ञानी है। दादा महर्षि व्यास ने उन्हें भगवान् कहकर उनकी प्रशंसा की है। एक ऋषि से ही जिन्होंने ऐसी प्रशंसा पाई है, ऐसे महाज्ञानी मित्र को मैं भला क्या सान्त्वना दे पाऊँगा? 'खैर, उनसे कुछ कहने की आवश्यकता तो है नहीं। पास जाकर मौन बैठने से मित्र को तनिक समाधान हो सकता है।' यह सोचते-सोचते ही उन्होंने एक-दो मास बिता दिये।

युधिष्ठिर जब इसी चिन्ता में डूबे हुए थे तब एक स्वप्न में श्री कृष्ण ने आकर कहा, "भैया, अब मैं जाता हूँ।" नींद खुलते ही वे सोचने लगे, 'अरे! ऐसा स्वप्न क्यों आया? क्या इसका कोई अर्थ हो सकता है?'

कृष्ण ने 'जाता हूँ' ऐसा क्यों कहा? क्या इसलिए कि अब उनकी कोई भी सन्तान नहीं बची इसलिए अब वे रहना नहीं चाहते? वे आयु में छोटे होने पर भी महामहिम हैं। क्या इसलिए स्वप्न में आकर उन्होंने मुझसे ऐसा कहा? तो कृष्ण'''आगे की बात सोचने को उनका मन तैयार न हुआ।

जब बड़े भाई ऐसे सोच में डूबे थे तभी अर्जुन कुछ कहने या पूछने के लिए भीतर गया। कृष्ण के परिवार के साथ हुए अनर्थ से जितने युधिष्ठिर दुखी थे उतने ही अन्य लोग भी दुखी थे। उन सबके दिल भरे हुए थे।

सब कृष्ण के यहाँ जाना चाहते थे। पर सब की स्थिति युधिष्ठिर जैसी ही थी। पास आये अर्जुन ने बड़े भाई की खिन्नता को देखा। इससे वह जो कुछ कहना या पूछना चाहता था न कहकर वहीं ठिठक गया।

भाई को पास आते देखकर दुखी युधिष्ठिर बाहर आये और बोले, "आओ भैया बैठो।" अनर्जुन उनके पास ही एक पीठ पर बैठ गया। वह प्रतीक्षा कर रहा था कि भैया कुछ कहेंगे, पर जब वे कुछ न बोले तो वही बोला, "क्या बात है भैया, बड़े दुखी दिखाई दे रहे हैं?"

युधिष्ठिर ने कृष्ण के बारे में अपने स्वप्न की बात कही और कहा, "मैं यही सोच रहा था कि बच्चों को खोकर बेचारे कृष्ण कितने दुखी होंगे। इसी से मैंने ऐसा स्वप्न देखा होगा। उन्होंने 'जाता हूँ' कहा न। पता नहीं क्यों? पर मुझे ऐसा लगता है जैसे वह अपशगुन की बात हो। कभी-कभी स्वप्न भविष्य की होनी के सूचक होते हैं। मन में चिन्ता हो रही है कि कहीं यह कुछ ऐसा ही तो नहीं?"

अर्जुन को भाई की आशंका सही लगी। उसने कहा, "आपका सोचना ठीक ही लगता है। कृष्ण दूर से ही अपने मन की बात आप तक पहुँचा सकते हैं। दादाजी (व्यास जी) कहते हैं न कि वे महायोगी हैं। वे ऐसा चमत्कार कर सकते

हैं। यह भी ऐसा ही होगा। समाचार पाते ही हममें से किसी को जाना चाहिए था। अब मैं हो आऊँ ?"

बड़े भाई को उसकी सलाह जँची। वे बोले, "हाँ भैया! वास्तव में मुझे ही जाना चाहिए था। पर तुम्हारा जाना ही अच्छा है। सान्त्वना देने के लिए मुझे सोचना पडता है। तुम्हारे लिए ऐसी कोई कठिनाई नही। बहुत प्रिय होने पर भी मैं कृष्ण से बहुत खुलकर बात नही कर सकता।"

अर्जुन उठ खड़ा हुआ, "मैं एक घड़ी मे चल देता हूँ। रथ से जाने पर विलम्ब होगा। घोड़े से जाकर एक मास के भीतर लौट आऊँगा।" यह कहकर उसने भाई के चरण छुए। भाई ने कहा, "ऐसा ही करो भैया! कृष्ण का ही सकल्प पूरा होगा। ठीक है, तुम्हारे लौटने तक मुझे शान्ति रहेगी।"



हस्तिनापुर से द्वारिका तक घोड़े से पन्द्रह दिन की यात्रा थी। यह यात्रा समाप्त करके अर्जुन कृष्ण के भवन में पहुँचा। वहाँ ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो बच्चो को खोकर सारा नगर का नगर ही रो रहा हो। राजभवन के सेवकों ने बताया—"राजमहल में रानियाँ हैं। कृष्ण नगर से कुछ दूर के सरोवर के तट पर योग में बैठे हैं।" अर्जुन के मन मे क्षण भर को यह प्रश्न उठा कि रानी रुक्मणी से बात करके कृष्ण के पास जाया जाय पर तुरन्त ही लगा कि यह अनावश्यक है। दुख से पीड़ित माँ से भला वह क्या कह सकता है। वह भवन के भीतर नही गया। घोड़ो और सेवको को नगर मे ही छोड़कर कृष्ण से मिलने वह सरोवर की ओर चला गया।

उस समय चन्द्रमा का हल्का-सा प्रकाश था। सरोवर के आसपास का स्थान एक उद्यान के समान था। सरोवर का जल स्वच्छ नीलमणि की भाँति चमक रहा था। चारों ओर पेड़-पौधे और लताएँ झूम रही थी। उनमे फूल खिले हुए थे। जहाँ-तहाँ एकाध पक्षी टेर रहा था। हवा मे शिथिलता थी। स्वच्छ आकाश चाँदनी से भरकर शोभा दे रहा था। उस वातावरण मे कृष्ण सरोवर के तट पर एक बड़े अश्वत्थ वृक्ष के तले किसी विचार में निमग्न सामने के नीले जल को निहार रहे थे।

पास कोई भी न था। उस निर्जन स्थान पर केवल योगीराज थे, अकेले! अर्जुन को यह सन्देह होने लगा कि उस सन्निवेश मे अपने उस बन्धु से मिलना उचित भी होगा! जब वह सोच ही रहा था तभी कृष्ण उसकी ओर मुड़े और उसे पहचानकर बोले, "आओ अर्जुन, क्या अभी आये ?"

अर्जुन कृष्ण के पास गया। उनके सामने उन्हीके द्वारा दिखाए स्थान पर बैठ गया।

●

कुछ क्षण दोनों में से कोई भी कुछ न बोला। बाद मे कृष्ण ने पूछा, "अभी आये क्या ? वहाँ सब कुशल तो हैं ? बड़े भैया कैसे हैं ? यहाँ का समाचार सुन कर बड़े दुखी हुए होंगे ?"

अर्जुन ने कहा, "उससे भी अधिक तुम्हारी स्थिति सोच-सोचकर वे इतने टूट गये हैं मानो उन्हीं के प्राण चले गये हो।"

बच्चों को खोने का दुख क्या होता है यह भैया जानते हैं। इससे मेरी स्थिति का अनुमान लगाकर उनका टूट जाना स्वाभाविक है। मैं भी टूट गया हूँ, भैया। मैंने सोचा इतने बच्चों को खोकर उनके खोने के दुख से आँसू गिराती स्त्रियो को कब तक देखता रहूँ। जीवन में ऐसे दुखो से छुटकारा नही। यह तो सत्य है। पर दुखों की भी एक सीमा होनी चाहिए। मानव में दुख सहने की शक्ति की भी एक सीमा होती है न। इसके अतिरिक्त और भी एक बात है। अब जी कर करना भी क्या है ?"

"तुम यहाँ ऐसा सोच रहे हो इसीलिए भैया को ऐसा स्वप्न दीखा। सपने में तुमने भैया से कहा, 'अब मैं जाता हूँ भैया।' यह 'जाता हूँ' शब्द उन्हें अमंगलकारी लगा। वे बड़े व्याकुल होकर चिन्ता मे डूब गये हैं। मैंने यह कहकर उन्हें धैर्य बंधाया 'सपने को इतना महत्त्व नही देना चाहिए। मैं जाकर देख आऊँगा।' और मैं चला आया। मंझले भैया और छोटे भाई भी आना चाहते थे। बड़ी रानी और तुम्हारी बहिन का भी आने का मन था। 'इस समय सबकी जरूरत नही। तुम्ही हो आओ' कहकर भैया ने मुझे भेजा है।"

"इस सरोवर का जल भी इतना साफ़ नहीं जितना बड़े भैया का मन साफ है। मुझे तो वे अपने प्राणो से भी ज्यादा प्यार करते हैं। मेरे जीवन मे जो वैराग्य आ गया उसकी छाया उनके मन पर पड़े बिना रहेगी ? क्या सपने में उन्होंने मुझे देखा होगा और उसी मे उन्होने ऐसा अनुभव किया होगा।"

"क्या बात है, कृष्ण ? तुमने क्या करने का निश्चय किया है ?"

"इसमे मेरे निश्चय की कौन-सी बात है ! विधि ने निश्चय किया है।"

"मैं यह बात आगे बढ़ाना नही चाहता पर उसे समाप्त भी नही किया जा सकता। विधि ने क्या निश्चय किया है ?"

"इस लोक में कृष्ण का काम समाप्त हो चुका है। इसलिए उसने कृष्ण की जीवन लीला समाप्त करने के लिए जरा को भेज दिया है।"

"जरा ?"

"हाँ भैया, जरा अर्थात् बुढापा। जरा एक व्याधि है। अन्य कारणों से यदि जीवन समाप्त न हो तो उसे समाप्त करने को सबके पास वह पहुँच जाता है।

अब मेरे शरीर में शक्ति नहीं रही। इसकी कथा आज या कल समाप्त हो जाएगी।"

"वह समाप्त हो जाएगी या तुम समाप्त कर रहे हो? ऐसा लगता है उसे समाप्त करने के लिए तुम कुछ कर रहे हो?"

"मैं तो कुछ भी नहीं कर रहा भैया। करने को कुछ है भी नहीं। वह अपने आप समाप्त होता जा रहा है।"

"क्या मतलब? तो इसका अर्थ यह हुआ कि भैया के मन की आशंका सच होने जा रही है। इस निराशा की बात उन तक पहुँचाने का भी अवसर नहीं मिलेगा क्या?"

"यह बात नहीं, मेरे मित्र। तुम इस घर के दामाद हो, साथ ही मेरे प्रिय बन्धु और सखा भी हो। तुम्हारा और तुम्हारे भैया का मेरे बारे में सोचना और तुम्हारा मुझे देखने आना बहुत ही अच्छा हुआ। तुम्हारे आने से तुम्हारे भाई को, तुम्हारी रानियों को, परिवार के अन्य लोगों को मेरा समाचार सीधा मिलना सम्भव हो सकेगा। मुझे ऐसा लगा था कि अन्तिम बार अर्जुन को देख लेता तो अच्छा था। तुम आ गये। तुम आ जाते तो अच्छा होता, मैंने ऐसा क्यों सोचा? तुमसे अन्तिम बार बातें करने की इच्छा थी। इसी से ऐसा लगा।"

अर्जुन का दुख समुद्र बनकर उमड़ पड़ा। उसने तुरन्त झुककर कृष्ण के चरणों पर सिर रखकर कहा, "तुम ऐसा मत करो, कृष्ण। तुम्हारे बिना हम कैसे जी सकते हैं?"

कृष्ण : "उठो अर्जुन! आँसू पोछो। ठीक से बैठ जाओ। विधि ने यह सब सोच लिया है। सबका अपना एक क्रम होता है। जिस प्रकार तुम कुरुक्षेत्र के युद्ध मे धीर बने रहे, उसी प्रकार जीवन मे भी तो धीर रहना चाहिए। लोक का क्रम तुम्हारे या मेरे लिए अलग-अलग होगा क्या? जो है उसे स्वीकार करो। उसके सामने सिर झुकाओ। उससे मिलने वाले सुख को जैसे स्वीकार करते हो वैसे ही उससे,मिलने वाले दुख का भी मन से स्वागत करो। जो आता है, उसे स्वीकार करो; उसे गले से लगा लो।"

यह बात कहते हुए भी कृष्ण जिस ढंग से बैठा हुआ था उसे देखकर अर्जुन को आश्चर्य हुआ। उसे लगा कि दादाजी की कही बात ही सत्य है। कृष्ण महायोगी हैं। केवल योगी ही नहीं, वह स्वयं योग हैं। योग ही नहीं, योगेश्वर हैं। उस आत्मा के लिए सुख और दुख दोनो नहीं हैं।

पता नही कृष्ण के स्वर में कौन-सा जादू था कि उसकी बात के एक-एक शब्द ने मन्त्र के समान अर्जुन को सान्त्वना दी। आँखों से पानी का उमड़ना बन्द हो गया। उसने क्षण भर बाद कहा, "ठीक है भैया, तुम मेरे सामने बैठे बात कर रहे हो। भविष्य की बात सोचकर मुझे दुखी होने की आवश्यकता नहीं। पर

वहाँ बैठे भैया तुम्हारी ही चिन्ता में डूबे होंगे। उन्हें मंझले भैया, रानियों और घर के बाल-बच्चों तक सान्त्वना की बात पहुँचानी है, वह कैसे होगा?"

"तुम्ही बताओ क्या करें? तुम्ही वापस जाओगे या किसी को भेजने का प्रबन्ध करें?"

"यदि अभी जाना हो तो मेरा मन तैयार नहीं। हरकारों से समाचार भेजें तो भैया तक जल्दी समाचार पहुँच जाएगा।"

"ठीक है कहला भेजते हैं। नगर से लोग आने वाले हैं। उनसे कहकर प्रवन्ध करेंगे।" इतना कहकर उन्होंने अपनी बात जारी रखी।

अर्जुन ने पूछा, "कृष्ण, तुमने पता नहीं कितने लोगों को किस समय समझा-बुझाकर सही मार्ग दिखाया पर तुम्हारे परिवार के बच्चे गलत मार्ग पर क्यों चले? क्यों तुम उनको सुधार नहीं सके?"

"नहीं कर पाया। गलती हो गयी। मुझे पता था कि वे गलत राह पर जा रहे हैं। एक-दो बार सचेत भी किया कि उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। बड़े भैया को भी सचेत किया था। पर एक बात के कारण इतना अनर्थ हो गया।"

"कौन-सी बात थी वह?"

"मद्य, भैया। बड़े भैया का भी यही रास्ता था! इन सबने उन्हें देखकर पीना सीख लिया। मैं ही था जो नहीं पीता था। पर पीना आसान होता है। बिना पीये रहने में मुश्किल होती है। छोटों ने बड़े भैया का रास्ता ही पकड़ा।"

"तुम अगर बड़े भैया को सचेत करते तो?"

"किस बात के लिए कि मद्य पीना गलत है? यह तो भैया ही कहते थे। अब भी कहते हैं। 'कृष्ण, मेरी राह ठीक नहीं, मुझे मालूम है पर क्या करूँ भैया, यह मेरी कमजोरी है। इस लत ने मुझे जकड़ लिया है।' उन्हें स्वयं ही यह बात पता थी। उसमें मेरे बताने को क्या बात थी?"

"तो तुम्हें भी तब पता न था कि ऐसा अनर्थ हो जाएगा?"

"ऐसा अनर्थ होगा या वैसा अनर्थ होगायह दीखना सम्भव नहीं। इतना अवश्य जानता था कि अनर्थ होगा। मैं लत छुड़वा नहीं सका इसलिए अनर्थ भी रोक नहीं सका।"

"दादाजी ने भगवान् के एक अवतार के रूप में तुम्हारा वर्णन किया है। ऐसे अवतार पुरुष को क्या ऐसा असहाय होना चाहिए?"

"मान लो भगवान् का ही अवतार सही; पर संसार को चलाने का संकल्प किसका है? भगवान् का ही! भगवान् का अवतार उसे रोक सकता है। अब इस बारे में क्या कहा जाय? तुम्हारे यहाँ ही कौन-कौन-सा अनर्थ नहीं हुआ? वहीं अवतार वहाँ क्यों चुप रह गया? अनर्थ रोका क्यों न हीं?"

"यह कैसी पहेली है ?"

"पहेली ? हाँ पहेली ही है; पर हमारी बनाई हुई पहेली है। दादाजी ने ऐसी और भी बातें कही हैं, तुमने सुनी ही होगी ? ये सब पुराने ऋषिओं की बातें हैं। सारी सृष्टि भगवान् ही है। भगवान् के सिवा कुछ है ही नहीं। इस हिसाब से सब उसी के अवतार है। सुर, नर, किन्नर, कृमि-कीट, सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म ने सृष्टि का सृजन किया। जब सृजन किया तब उसकी एक स्थिति थी। ब्रह्म ने उसे चलने की प्रेरणा दी। उसी भाँति सृष्टि चलती जा रही है। ब्रह्म ने कुछ नियम बनाये। सृष्टि उन नियमों का पालन करती हुई चल रही है और कुछ किया नहीं जा सकता। उन नियमों के अनुसार सृष्टि कदम भरती जा रही है। अब कदम भी बदल नहीं सकते।"

"*भैया ने कहा था, 'दादाजी ने बताया है कि तुम यही बात कहोगे।'* तुम इस तरह के दस-बीस सूत्र बनाते हो; दादाजी यह सब जानते हैं। युद्ध-भूमि में मैंने यह कहा था कि मेरा युद्ध करने का मन नहीं। तब तुम्हीं ने समझाया था कि युद्ध के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं। तुम्हें पता है कि दादाजी ने उसी बात को लेकर और कुछ थोडी-सी बातें उसमें जोड़कर एक स्मृति की रचना की है ?"

"नहीं। पर वे ऋषि हैं, ऐसा कर सकते हैं। कृष्णव्यास एक महाज्ञानी हैं। एक युग में ऐसा महाज्ञानी मुश्किल से एक ही जन्म लेता है, दूसरा नहीं। लोक का संचालन करने वाले धर्म को जानना चाहिए। उसे लिखकर रखना चाहिए। यह उनके जन्म का कर्त्तव्य है। ऐसा वे जानते हैं। इसीलिए वे ऐसा कर रहे हैं। उन्होंने तुम्हारे वंश की कहानी लिखकर उसमें इस धर्म का स्वरूप दिखाया है। तुम्हें यह पता है ?"

"नहीं।"

"जब कुछ दिन पूर्व मैं तुम्हारे यहाँ आया था, तब वे भी आये थे। तभी उन्होंने यह बात बताई थी।"

"तो उसमें उन्होंने तुम्हारी बात तो कई बार कही होगी।"

"हाँ, कही होगी। मेरा वर्णन एक अवतार पुरुष के रूप में ही किया होगा। मैं तुम लोगों का घनिष्ठ मित्र हूँ और बड़ा भी हूँ। उसी बात को लेकर उस पुस्तक में मेरा *'केवल एक मनुष्य ही नहीं हूँ,' ऐसा वर्णन किया गया है।"*

"मनुष्य नहीं तो क्या हो ?"

"उस हिसाब से या तो मैं राक्षस हूँ और या भगवान् ! राक्षस मैं हूँ नहीं, तो भगवान् ही हुआ।"

"उन्होंने ऐसा कहा है कृष्ण ! मैं तो उसे स्वीकार करता हूँ। हमारे परिवार के लिए तो तुम भगवान् ही सिद्ध हुए। कृष्ण, तुम उनसे कुछ कम नहीं।"

"तुम्हारे लिए यह बात गलत नहीं होगी अर्जुन, परन्तु दादाजी ने १६।

और पोते ने स्वीकार कर लिया यह सोचकर यदि मैं भी हाँ कहूँ तो गलत होगा। भैया भगवान् क्या होता है ? सृष्टि का सृजनकर्ता ! सृष्टि में भी प्रत्येक को अपने-अपने स्थान पर रखने वाला तत्त्व ! सबको सही मार्ग पर चलाने वाला तत्त्व यानी सुर-असुर दोनों का राजा। इन दोनों को सही चलाने वाला तत्त्व। यहाँ बैठा मैं भला भगवान् कैसे हो सकता हूँ ? क्या यह सम्भव है ? सब को चलाने वाला भगवान् है। वह सबमें अन्तर्यामी है। ऐसा होते हुए भी वह पृथक् भी है। भगवान् का स्थान लेना सम्भव भी नहीं। पूछो तो क्यों ? इसका भी अपना एक खेल है। यह खेल चलता रहना चाहिए। सबको चलाने वाला बनकर स्वयं उसमें भाग लेना यह केवल भगवान् के लिए ही सम्भव है, मेरे लिए नहीं। यह पहेली अवतारों की कल्पना में मिल गयी है। मनुष्य की बुद्धि में इसे बूझने की शक्ति नहीं। भगवान् एक ही होता है। मन को ऐसा लग सकता है कि वह अलग-अलग होकर करोड़ों रूपों में रहता है। परन्तु उसे विस्तार से समझना सम्भव नहीं।"

"अगर यह बात है तो प्रत्येक जीव अपना रास्ता कैसे पहचान सकता है ?"

"वह प्रश्न ही नहीं उठता। तुम हो, मैं हूँ या और कोई किसी स्थान में या किसी सन्निवेश या समय में है। तब जो रीति अपने को सही लगती है वही होनी चाहिए। बहुत बार यह स्पष्ट हो जाती है। कई बार ऐसे अवसर भी आते है कि जब यह कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। तब थोड़ा सोचें तो समझ में आ जाता है। इतना सोचने वाले को बात स्पष्ट सुझाई देती है। केवल अपने सुख के बारे में ही सोचने वाला गलत राह पर चला जाता है। जो समाज के सुख की बात सोचता है, वह सही मार्ग पर चलता है। वह समाज जितना बड़ा होता है उतना ही वह व्यवहार उत्तम होता है। जो व्यक्ति दुनिया के सुख में अपना सुख देखता है, वह उसी की भलाई चाहता है, उसी के लिए परिश्रम करता है। और चाहे तो उसी के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग भी कर देता है। ऐसी स्थिति प्राप्त करना मानव जीवन का उद्देश्य होना चाहिए।"

●

तब नगर से चार सेवक आये। उनके मुखिया ने कृष्ण और अर्जुन को नमस्कार किया। पीछे वाला सेवक एक बर्तन लेकर सरोवर तक गया और बर्तन में पानी भरकर लाया। उसमें से दो लोटे पानी भरकर कृष्ण और अर्जुन के सम्मुख रख दिये और हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा, "यह सब रुक्मणी देवी का प्रबन्ध है। ये लोग मेरे लिए जो भोजन लाये हैं वह हम दोनों के लिए पूरा हो जाएगा। उठो, दोनों भोजन कर लेते हैं।"

सेवकों ने कहा, "जमाई जी आये हैं इसलिए देवी ने दोनों के लिए भोजन भेजा है।"

अर्जुन ने कहा, "आते समय मैं नगर गया था। वहाँ घोड़ों को आपके लोगों की देखभाल में छोड़कर इधर आया था।" कृष्ण ने सिर हिलाकर जताया कि बात समझ आ गयी। सेवकों ने दोनों को हाथ-पाँव धोने को पानी दिया। वह स्थान स्वच्छ करके पेड़ के पीछे रखे पट्टे लाकर लगाये। फिर साथ लाये पदार्थ दोनों को परोसे। भोजन समाप्त होने के बाद कृष्ण ने सेवकों के मुखिया से कहा, "जमाई जी आज यहीं रहेंगे और कल घर जाएँगे। इनके अपने नगर लौटने से पहले इनके बड़े भाई के पास यह खबर भेजनी है कि वह सकुशल हैं। इसके लिए हरकारे की व्यवस्था करने को महारानी जी से कहना।"

"जो आज्ञा," मुखिया ने कहा।

●

इसके बाद दोनों मित्रों ने थोड़ा आराम किया और फिर बातें शुरू कीं।

अर्जुन : *"दादाजी ने हमारे वंश का एक इतिहास लिखा है। साथ ही यह भी सुनने में आया है कि उन्होंने अपने शिष्यों को यह आज्ञा दी है कि उसमें तुम्हारे बारे में और तुम्हारी महिमा जोड़कर एक बड़ा ग्रंथ बनाएँ।"*

कृष्ण : "मुझे अवतार कहने के बाद महर्षि ने अवतारपुरुष की महिमा व्यक्त करने वाली कहानियाँ संकलित करने का विचार किया होगा। हमारे लोगों ने मेरे बारे में बहुत कहानियाँ बताकर मुझे बड़ा आदमी बना दिया। महर्षि के शिष्यों के लिए यह सब अच्छी सामग्री है। परन्तु मेरे बारे में प्रचलित इन सब कहानियों को सही मानना गलत है। बहुत-सी बातें हुई ही नहीं पर उनकी कहानियाँ बन गयी हैं। कुछ घटी हुई बातों को बढ़ा-चढ़ाकर कहानियाँ बनाई गयी हैं। इससे कुछ कहानियों का रूप विकृत हो गया है। ऐसी भी कुछ कहानियाँ प्रचलित हो चुकी हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि जनता की रक्षा के लिए हमारा राजा कुछ भी करने को तैयार रहता है। इनमें कुछ कहानियाँ उसे अयोग्य भी सिद्ध करती हैं। 'ऐसा हो जाएगा' यह सोचकर भी लोग उन कहानियों को कहना बन्द नहीं करते। जिस प्रकार दादाजी मुझे अवतार पुरुष कहते हैं उसी प्रकार पुराने लोगों ने अयोध्या के राम और उससे भी पुराने जमदग्नि राम को अवतार पुरुष कहा। पुराने उन दोनों रामों ने जितने साहस के कार्य किये उनमें दो कार्य अपनी ओर से जोड़कर लोगों ने उन्हें महापुरुष बना दिया। इन महर्षि और उनके शिष्यों के द्वारा मेरी भी वही स्थिति होगी। वे दोनों राम वास्तव में महान् पुरुष थे। उनकी पूजा करना सही है। चार सही बातों के साथ अपनी पसन्द की चार बातें जोड़ना सही नहीं होता। यह बात सभी को स्वीकार करनी चाहिए। पर

हमारे और तुम्हारे कह देने पर ही लोग नही मानेंगे। वे कहेंगे, हम जिनकी पूजा करते हैं उनकी प्रशंसा की कथाएँ सुनने मे अच्छी लगती है। वे सच नही हैं, ऐसा कहकर हम उन्हे क्यो खो दे। जनता का मन बच्चो की तरह का होता है। कोई भी अद्‌भुत बात सुनाने पर बच्चा उसे मान लेता है, विश्वास कर लेता है। हमारी गोकुल की जनता का मन भी ऐसा ही सरल है। ऐसे मन वाले लोगो को सब कल्पित कथाएँ भी सच प्रतीत होती है।"

"तो हमे क्या करना चाहिए ?"

"जब ऐसी कथाएँ भक्त लोग सुनाते है तब चार आदमियों को इकट्ठा करके यह कहना होगा कि यह सही नही है। दादाजी अपने शिष्यो द्वारा जैसी कथाएँ संकलित कर रहे हैं, उन्हे झूठा सिद्ध करने के लिए क्या तुम एक शिष्य मंडली तैयार कर सकोगे ?" यह कहकर कृष्ण हँस पड़ा। अर्जुन भी हँस दिया।

कुछ देर बाद अर्जुन बोला, "मैं यह सोचकर आया था कि आज का दिन यहाँ ठहरकर कल वापस चला जाऊँगा पर तुम्हारा निश्चय सुनकर दो दिन और रुकने को मन करता है।"

"इसमे बुराई भी क्या है ? परन्तु जल्दी जाकर समाचार पहुँचाना भी जरूरी है। मुझे देखकर और फिर जाकर भाई को समाचार देने का अर्थ ही कुछ और होता है। सोचो और तुम्हे जो ठीक लगे वैसा ही करो।"

"अब मैं सोच रहा हूँ कि मैं यही से लौट जाऊँ, या नगर मे जाकर भाभी से मिलकर जाऊँ ? वे तुम्हारे बिछड़ जाने के विचार से ही दुखी हो रही होगी। इस स्थिति मे उनसे कैसे मिलूँ ?"

"मैं इन सबको छोड़कर जा रहा हूँ। यह एक दुख की बात है। मुझे भी दुख हो रहा है। लेकिन यह तो एक दिन होना ही है, चार दिन पहले या चार-दिन बाद। इससे क्या हो जाता है। तुम नगर जाओ। अपनी भाभी से मिलो। रात को रहकर कल सुबह आना। आज ही की तरह कुछ और बातें करेंगे, खाना खायेंगे। फिर रात को मेरे साथ रहना और परसों प्रातः चले जाना।"

"अच्छी बात है, कृष्ण ! तुम्हारे कहने के अनुसार मेरा स्वयं जाकर भैया को समाचार देना ही ठीक होगा। मैं तुम्हे देखने आया था। मिल लिया। सब बातो मे तुम्हारा निर्णय ही ठीक है।"

दोनो मित्र कुछ देर मौन बैठे रहे। कुछ समय ऐसे ही बीत गया। बाद मे कृष्ण ने कहा, "अब तुम नगर जाओ, अर्जुन। सब से बात करके तुम्हें जो ठीक समझ में आवे, करना। अपनी भाभी से हमारे बिछुड़ने की बात भी उठाना। तब पता चल जाएगा कि यह कैसी स्त्री है और कैसी पत्नी है।"

●

उस बात के अनुसार अर्जुन नगर में गया। रुक्मणी देवी से मिला। उसके मुख से यह उद्‌गार निकले, "बच्चों के खो देने के दुख में ही पति से बिछड़ने का प्रसंग भी आ गया न! ऐसे में मुझे आपसे मिलने का साहस नहीं हो रहा था। पर भैया ने आपसे मिलकर जाने को कहा। इसलिए बहुत साहस करके आया हूँ।"

देवी बोली, "हमसे मिलने के बारे में आपका सकोच ठीक ही है और आपके भैया का हमसे मिलने के लिए कहना भी सही है। आपके भैया की पत्नी होने के नाते मुझे भी उनके ज्ञान का थोड़ा-सा अंश मिला है। बच्चे चले गये हैं, कोई पास नहीं है। पति ने भी जाने का निश्चय कर लिया है। वे सामने नहीं रहेंगे। उनका कहना है कि सामने न रहने की इस बात को बड़ा करने की आवश्यकता नहीं। देह सामने नहीं रहती यह कह देने से अपना प्रिय नहीं रहेगा क्या? आपके भैया हमें छोड़कर आपके नगर गये थे। तब वे मेरे साथ नहीं थे। पर चले गये हैं, यह सोच कर मैं दुखी हुई क्या? मनुष्य का परलोक जाना भी इसी यात्रा के समान है। उनके हस्तिनापुर जाने पर जैसे दुख नहीं हुआ था वैसे ही अब भी तसल्ली रखनी चाहिए। यदि तुम्हारे भाई की देह नहीं रहेगी तब भी मन में उनकी मूर्ति रहेगी ही। देह का रहना जितना सत्य है मन में मूर्ति का रहना भी उतना ही सत्य है। परलोक जाने पर भी वह मूर्ति वैसे ही मेरे साथ रहेगी। मुझे याद है कि पहले भी एक बार तुम्हारे यहाँ से जाने पर यही बात उन्होंने मुझसे कही थी। यह सब मैंने उन्हीं से सीखा है। देह छोड़ने पर भी वे मुझे अकेली छोड़कर नहीं जाएँगे; साथ ही रहेंगे।"

अर्जुन को उस दम्पति की मानसिक स्थिरता देखकर आश्चर्य हुआ। रुक्मणी देवी की बात सुनकर उसने सोचा, इसमें आश्चर्य की बात नहीं। कृष्ण के साहचर्य में रहने वाले मनुष्यों में इतना मनोबल आ जाता है। वे पारस हैं। कैसा भी निकृष्ट लोह क्यों न हो, उनके स्पर्श से सोना बन जाता है। कुरुक्षेत्र में युद्ध के समय उन्होंने जो चार बातें मुझसे कही थीं वे कितनी महान् हैं। 'मैं युद्ध नहीं कर सकूँगा' कहकर मैंने गाण्डीव छोड़ दिया था। 'राज्य कौन-सी बड़ी चीज है जिसे प्राप्त करने के लिए अपने बन्धुओं को मारना है? क्या यह पाप नहीं?' इस प्रकार जब मैं अपना साहस खो बैठा था तब भैया की बातों ने मेरा मार्गदर्शन किया। उनका कहना था, 'साम्राज्य के लिए युद्ध नहीं करते, तो कर्तव्य के लिए युद्ध करो। युद्ध में हार हो या जीत यह सोचकर युद्ध छोड़ देना तुम्हें शोभा नहीं देता।' यह उपदेश देकर उन्होंने मेरा मार्गदर्शन किया था। ऐसे गुरु के साहचर्य में रहने वाली पत्नी—इन भाभी में यह विवेक सहज है।

इधर-उधर की दो बातें करके कृष्ण की अन्य पत्नियों और नगर के प्रमुख से मिलने के बाद अर्जुन बलराम से मिलने के लिए गया। बलराम बच्चों के मर जाने के शोक और कृष्ण की अनुपस्थिति के दुःख से और भी अधिक सुरापान में डूबा था। उसने अर्जुन को कभी पसन्द नहीं किया था। उसके मन में यह बात बैठी थी कि यह हमारी लड़की को फुसलाकर भगा ले गया। वह बहुत बड़ा धनुर्धारी हो सकता है पर अच्छा आदमी नहीं। इस उपेक्षा के अतिरिक्त मद्य का नशा भी जोरों पर था। उसने केवल औपचारिकता के नाते पूछा, "कुशल तो हो? वहाँ सब सकुशल है न?" अर्जुन ने कहा, "आपके आशीर्वाद से सब कुशल है।" एक-दो और बातें करने के बाद कुछ देर अर्जुन यूँ ही बैठा रहा पर बलराम ने उसकी ओर देखा तक नहीं, बात तक न की। अर्जुन ने उठते हुए कहा, "अब मैं चलता हूँ। आज्ञा दीजिए।" बलराम ने उसकी ओर देखा भी नहीं। यूँ ही सिर हिला दिया। अर्जुन चला गया।



अतिथि भवन में रात बिताकर प्रातः अर्जुन कृष्ण के पास गया। तब कृष्ण ने पूछा, "सबसे मिलकर बात करके आये हो क्या?" अर्जुन ने कुछ देर बाद बताया कि वास्तव में भाभी को समझाने योग्य कोई बात ही नहीं थी। श्रीकृष्ण ने कहा, "यह तुम्हें पता लग जाय इसलिए उनके पास भेजा था। यह बात तुम पर भी लागू होती है। मैं नहीं रहूँगा अर्थात् मेरी देह नहीं रहेगी। फिर भी मैं समाप्त नहीं होऊँगा, कहीं भी नहीं जाऊँगा। मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ। इसी विश्वास से रहो। तब तुम्हें कोई चिन्ता न रहेगी।"

"हाँ, कृष्ण! यह बात तुमने मुझसे युद्ध के दिन भी कही थी। मिटती तो देह है, हम नहीं। यह कितना सहज सत्य है परन्तु हाथ में पकड़े पारे के समान यह बात फिसल जाती है। यह चिपककर रहने वाला सत्य नहीं। प्रिय लगने वाला सत्य भी नहीं। 'कृष्ण कहीं नहीं गया। साथ ही है' इस प्रकार सोचने पर भी दूसरे क्षण ही 'हाय कृष्ण साथ नहीं है' कहकर बिलखने लगते हैं।" यह कहकर अर्जुन पिछले दिन की ही भाँति श्रीकृष्ण के चरणों में माथा टिकाकर रोने लगा।

कुछ देर बाद अर्जुन उठकर बैठ गया। "तुम ज्ञानी हो कृष्ण। तुम साधारण लोगों से अपने जैसे ज्ञान की अपेक्षा मत करना। दुर्बलता हमारा जन्मजात गुण है। हम बेचारों का जीवन ऐसा ही है, सोचकर सम्भाल लो। तुम बड़े हो; हम लोगों को अपना समझकर हमारी रक्षा करो।" यह कहकर वह गिड़गिड़ाया।

बाद में दोनों मित्र कुछ और इधर-उधर की बातें करते रहे। बीच में

बलराम की बात भी आयी। कृष्ण ने कहा, "भैया को इस बात का दुख है कि वंश के बच्चों के बिगड़ने का मूल कारण भैया के जीवन का ढंग ही था। उससे बचने को वे और मद्य पीते हैं। उनकी दशा देखकर मेरा पत्थर जैसा मन भी पिघलता जा रहा है। तुमसे भी उन्होंने कोई ढंग की बात नहीं कही होगी।"

"उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। यह स्पष्ट व्यक्त हो रहा था कि वे मुझे पसन्द नहीं करते हैं। पर कोई कड़वी बात उनके मुँह से नहीं निकली।"

"भैया का मन बड़ा उदार है। उन्हें जब अच्छी बात कहनी होती है तभी बोलते हैं। बुरी बात कहकर मुँह गन्दा नहीं करते। ऐसे अवसरों पर वे मौन धारण कर लेते हैं। यही उनका ढंग है।"

"बाहर से न दीखने पर भी लगता है कि वे ऊँचे स्वभाव के हैं।"

"यदि उदार न होते तो क्या वे मुझे अपने छोटे भाई के रूप में सहन करते, अर्जुन? वे गोकुल के राजा हैं। वे ही उसके अधिकारी हैं। वे उसी वंश के हैं। मैं तो उनके बन्धु वश में पैदा हुआ था। उनके घराने में एक पालित पुत्र हूँ। रिश्ते से मैं उनका भाई हूँ। हम दोनों में काफी अन्तर भी है। ध्यान से देखा जाय तो मैं बन्धु भी नहीं हूँ। लेकिन इस भाई ने मुझे अपने सगे भाई की तरह रखा। मेरे अपने स्वभाव के कारण या उनसे थोड़ा ज्यादा समझदार होने के कारण लोगों ने मुझे जरा ज्यादा ही प्यार दिया पर इन्होंने इस बात का बुरा नहीं माना। हम दोनों एक साथ बढ़े, इस कारण हम दोनों का अन्तर भी दीखने लगा। पर क्या उन्होंने इसका बुरा माना? कदापि नहीं। पर हर बात में वे यही कहते आये हैं, 'जाकर मेरे भाई कृष्ण से पूछ लो। हममें उसके समान समझदार कोई नहीं है।' मुझे हर बात में आगे करके बड़ा बनाकर, स्वयं पीछे रहे और सदा प्रसन्न रहे। इतना बड़प्पन कहाँ मिलेगा, अर्जुन? इतना तो केवल मेरे भाई बलराम में ही मिलेगा या इसका दूसरा उदाहरण तुम्हारे बड़े भाई युधिष्ठिर हैं। अपने छोटे भाइयों को बड़ा बनाकर उन्हें आगे करके स्वयं पीछे खड़े होने वाले भाई संसार में अधिक नहीं। वे आज भी वैसे ही हैं। '*जब तुम अपने इस शरीर को छोड़ दोगे, तभी मैं भी अपने प्राण छोड़ दूँगा—उनका यही* हठ है। लगता है वे ऐसा ही करेंगे। भगवान् का इतना अनुग्रह उन पर है।"

"तो यह बात है। कृष्ण, मैंने नगर के प्रमुखों से बात की। उन्होंने तुम्हारी बड़ी प्रशंसा की। सुनने में वे सब बातें बड़ी अच्छी लगीं। उनकी बातों का सार यह था कि तुमने अपने बचपन में बड़े-बड़े चमत्कार दिखाये। तुम्हें दूध पिलाने कोई दूसरी स्त्री उठा ले गयी थी। उसके स्तनों पर तुम्हारे द्वारा होंठ रखने ही वह स्त्री मर गयी। एक बार बड़े जोर का अंधड़ आया। बच्चे उसमें फँस गये। तब एक बच्चा हवा में उड़ने लगा और धीरे पड़ा। तुमसे भी बड़े लड़के अंधड़ को एक बड़ा राक्षस समझकर काँपने लगे। तुमने उस बच्चे को थाम लिया।

अधड रुक गया। एक बार चार पहियों वाली गाड़ी ढलान पर फिसल रही थी। तुमने लात मारकर उसे गिरा दिया। इसी तरह एक सांड बच्चों पर अर्रा पड़ा था तुमने उसे लाठी से पीट-पीटकर मार डाला। उन दिनों नदी के किनारे एक साँप था। बच्चे पानी पीना चाहते थे पर साँप के डर से आगे नहीं जा पा रहे थे। तुमने वह साँप भी मार डाला। इस छोटी आयु में ही तुमने बड़ों से भी बढ़कर साहस दिखाया और बड़ों को भी बचाया। गोकुल के लोगों की जुबान पर आज भी ये बातें हैं। इन्होंने भी यहाँ सब कुछ सुनाया। इन्होंने यह भी बताया कि एक वर्ष पूर्व महर्षि के शिष्य उनकी ओर से गोकुल गये थे और ये सब कथाएँ संग्रहीत करके ले गये थे।"

"हाँ, मैंने भी यह सुना है। मैंने तुम्हें तभी कहा था कि लोग ऐसी बातें करते हैं। उस स्त्री के मरने की बात मुझे याद नहीं। मेरे उसके स्तन पर मुँह रखते ही वह मर गयी, यह भी सही बात नहीं। उसकी आयु समाप्त हो गयी थी अतः वह मर गयी। यह तो काक-तालीय न्याय जैसा है। हमारे लोगों के लिए *आँधी भी राक्षस है। ढलान पर फिसलती गाड़ी भी एक राक्षस है। एक साँप,* एक साँड, कुछ ऐसी ही बातें हैं। मेरा मामा बुरा आदमी था। इस कारण मुझे बड़ा आदमी बनने का अवसर मिल गया। वह पिता को ही कारागृह में बन्दी बनाकर आप राजा बन बैठा। ज्योतिषियों की बात पर विश्वास करके उसने मेरे माता-पिता को भी बन्दी बना लिया। जन्म देने वाली माँ के सामने ही बच्चे को जान से मार डालने की धमकी दी। नानाजी साधु स्वभाव के थे। उस ने कहना शुरू किया कि उनमें राज्य करने की शक्ति नहीं। मैं राज्य चलाऊँगा। मेरे पिता उससे बड़े थे। मेरी माँ उसकी बड़ी बहिन थी। बड़े होने के नाते मेरे पिता ने उसे समझाने का प्रयास किया। इस कारण उन्हें कारागार में डाल दिया। 'यह बच्चे को मार डालेगा', इस डर से मेरे पिता ने मेरा जन्म होते ही मुझे अपने निकट के बन्धु नन्दजी के घर पहुँचा दिया। मुझे माँ यशोदा की गोद में डाल दिया। भाई इस प्रतीक्षा में था कि गर्भवती बहिन के यहाँ बच्चा पैदा होगा पर बच्चा पैदा हो जाने की बात उसे पता ही न चली। 'गर्भवती होने की बात गलत थी,' कहकर मेरे माता-पिता बच गये। भांजे को मार डालने के मामा ने बहुत-से प्रयत्न किये। इस बारे में बहुत-सी कहानियाँ बन गयी हैं। मैं वही भांजा हूँ। क्या उसे पता था कि मैं नन्द के पास गोकुल में बढ़ रहा हूँ? मैं बड़ा हुआ। मैंने सोचा यह दुष्ट मेरा मामा नहीं हो सकता। यह अपने पिता को गद्दी से उतारकर स्वयं राजा बन बैठा है। बहिन और बहनोई को बन्दी बनाकर डरा रहा है। मैंने सोचा, इसे ठीक करना चाहिए। मैंने बड़ा होते ही उसे जान से मार डाला और नाना को फिर से गद्दी पर बिठाया। माता-पिता को बन्दी-गृह से स्वतंत्र किया। सारे देश ने मेरी प्रशंसा की। मुझे यश मिला। जनता के प्रेम ने

इसे एक महान् इतिहास ही बना डाला। मामा का अपना ही एक दल बन गया और मेरे पालने वाले पिता का दूसरा दल। मामा के दल का कहना था, 'हम राज्य करने वाले क्षत्रिय है। तुम लोग गाय चराने वाले ग्वाले हो। हमारी तुम्हारी क्या बराबरी ?' मेरे पालक पिता के दल का अपमान भी किया गया। उन्होंने कहा कि हम राज्य करने वाले है। हमारी बेटी रुक्मणी का विवाह गाय चराने वाले कृष्ण के साथ नही हो सकता। मैंने कहा, 'यह सही है कि आप क्षत्रिय हैं, राज्य संचालन करते हैं, पर कैसा राज्य संचालन कर रहे हैं ? गरीबो की रक्षा करते है ? तुममे कोई बड़प्पन क्या है ? अपने को बडा कहने का अंहकार ही सबसे बड़ा गुण है। अपने आपको बडा कहने वाला बडा आदमी कैसे हो जाएगा ? आपका वह गलत रास्ते पर चलेगा। नीच बनेगा। आपका दल ही नीचो का दल है। तुम लोगों को तुम्हारी गद्दी से उतार दूंगा।' यह कहकर मैंने उन्हे अपना शत्रु बना लिया। उन्होने मुझे तंग किया। जब तक बन पड़ा और जहाँ तक बन पड़ा मैंने उनसे युद्ध किया। उस युद्ध मे पता नही कितने लोग मारे गये। तब मुझे लगा कि अपनी प्रतिष्ठा के लिए आगे और लोगो को मरने नही देना चाहिए। मैंने गोकुल और मथुरा ही छोड दिया यहाँ और चला आया। यहाँ आने पर जरा शान्ति मिली। इस बीच अपने को क्षत्रिय कहने वाले आप लोगों में युद्ध ठन गया। आपका पक्ष न्याय का पक्ष था। आप मेरी बुआ के बेटे थे। आपको सकट मे डालने वाले दुर्योधन का अहंकार तोडने के लिए मैंने आप लोगो की सहायता की। मुझसे जो बन पडा वह मैंने किया। फिर से रक्तपात रोकने का मैंने पूरा प्रयास किया। मेरा शान्ति पाठ आप लोगों की जाति की दुर्बुद्धि के सामने व्यर्थ रहा। फिर से रक्तपात हुआ। मैं अपने हाथो रक्त बहाना नही चाहता था, इस कारण तुम्हारा रथ चलाकर तुम्हारी सहायता की। बस भाई, मेरी इतनी ही कहानी है। प्यार करने वाले कुछ अच्छी बातें कहते हैं। बुरा कहने वाले चार बुरी बाते कहते हैं। दोनों ही सुननी पड़ती हैं। लोग जो चाहे कहें, सोचकर चुप रहना चाहिए।"

"तो कृष्ण, तुम्हारे पास बैठकर तुम्हारी बातें सुनें तो लगता है कि तुम साधारण मनुष्यो के समान मनुष्य नही, भगवान् ही हो।"

"वह तुम्हारा प्रेम है, अर्जुन ! जब भैया ने सुभद्रा को दुर्योधन को देने की बात सोची तो मैंने सोचा अपने घर की बेटी उस घमण्डी के घर में नहीं देनी चाहिए। सात्विक घराने मे देनी चाहिए। लड़की ने भी तुम्हे पसन्द किया। यह अच्छा ही हुआ यह सोचकर मैंने उसकी इच्छा पूरी होने में सहायता दी। भैया को क्रोध आ गया। उन्होंने बडी कड़वी बातें कहीं। शायद उन्ही का फल होगा कि सुभद्रा अपना पुत्र खो बैठी। इसे मैं विधि का विधान मानकर दुखी हुआ। यह सब हो गया। अब तो यह इतिहास हो गया। मेरे लिए तो अब यह इतिहास

ही समाप्त हो रहा है।"

बच्चे की बात आने पर अर्जुन फिर से पुत्र खो जाने के दुख से दुखी हो उठा। पुत्र चला गया। फिर भी मामा के अनुग्रह से एक निशानी छोड़ गया। उस निशानी में आगे वंश चलना है। यह कृष्ण के अनुग्रह से ही सम्भव हुआ है। पता नहीं कृष्ण दूसरों के लिए भगवान् हैं कि नहीं। यह मेरे सोचने की बात नहीं। मेरे लिए तो कृष्ण ही भगवान् है।

●

यथाप्रकार नगर से भोजन आया। मित्रों ने भोजन किया।

अर्जुन का शीघ्र ही देश लौटने का निश्चय हो चुका था। सेवक उसके घोड़े लाए। उसके चलने से पूर्व श्री कृष्ण ने उससे कहा, "मैं कह नहीं सकता कि तुम्हारे अपने नगर पहुँचने तक मैं रहूँगा या नहीं। पूर्व निश्चय के अनुसार तुम प्रयाण के लिए निकल पड़ो। बीच में कोई बात हो गयी तो यहाँ के लोग तुम्हें समाचार देंगे। उस समय बीच प्रयाण में हो तो लौट आना। यहाँ के कार्य सम्पन्न करने में सहायता करना। पर समाचार हस्तिनापुर पहुँच जाना चाहिए।"

"अच्छी बात है," कहकर अर्जुन, घोड़े पर सवार हो गया। तब कृष्ण ने कहा, "तुम और मैं एक प्राण दो देह के समान हैं, अर्जुन! जब मैं देह छोड़ूँगा तो समझना तुम्हारे ही प्राणों का आधा भाग निकल गया। मेरे इहलोक छोड़ते ही यह बात तुम समाचार मिलने से पूर्व ही अनुभव कर लोगे।" बात अर्जुन की समझ में आ गयी पर इसका अनुभव कैसे हो जाएगा, यह बात समझ में न आयी।

अर्जुन की दो दिन की यात्रा पूरी हो गयी थी। तीसरे पड़ाव पर प्रातः जब उठा तो अकारण ही उसे ऐसा अनुभव हुआ जैसे शरीर में जान ही नहीं है। उसे प्राण निकल जाने जैसी यातना अनुभव हुई। पर क्षण में वह यातना जाती रही। उसे चलते समय कृष्ण की कही अंतिम बात याद आयी। वह वहीं से द्वारका लौट पड़ा। आधे रास्ते में ही उसी को समाचार देने आ रहा हरकारा मिला। उसे हस्तिनापुर भेजकर वह द्वारका पहुँचा।

कृष्ण देह छोड़ चुके थे। पता नहीं वह कौन-सी शक्ति थी कि उसके कुछ ही देर बाद बलराम ने भी अपनी देह छोड़ दी थी। अर्जुन ने रुक्मणी देवी से आज्ञा लेकर उनके सारे अंतिम संस्कार कराये। उसके बाद देवी से पुनः आज्ञा लेकर हस्तिनापुर लौट पड़ा।

भाई से सारी बातें सुनकर युधिष्ठिर कृष्ण की सब बातें बार-बार याद करके दुखी हुए कि हमने इतने महान् व्यक्ति को खो दिया। सारे भाई, रानियाँ और घर के लोग दुख-सागर में डूब गये। मँझले भाई भीम ने भाई से कहा :

"भैया अब तुम्हें यह निश्चय करना है कि आगे क्या करना है।" सारा दिन सोचने के बाद युधिष्ठिर ने कहा, "हमारा भगवान् ही हमें छोड़कर चला गया है। अब हमारे लिए यह जीना काफ़ी हो गया है।" उसके बाद सब भाइयों ने परीक्षित का राज्याभिषेक करके, उसकी देख-रेख के लिए सुभद्रा को छोड़कर, द्रोपदी सहित महाप्रस्थान किया।

(प्रकाशन वर्ष : 1984)



परिशिष्ट

मास्तिजी की रचनाएं

(कन्नड़ में)

उपन्यास-कहानी

1. चेन्नबसवनायक	1949
2. चिक्क वीरराजेन्द्र	1956
3. सुब्बण्णा	1928
4. सण्ण कथेगलु (15 भागो मे)	1920-79

काव्य-संग्रह

5. बिन्नह	1922
6. अरुण	1924
7. तावरे	1930
8. चेलुवु	1931
9. मलार	1933
10. गौडर मल्ली	1940
11. रामनवमी	1941
12. मूकन मक्कलु	1943
13. सुनीत	1946
14 मानवी	1951
15. नवरात्रि (पाँच भागों में)	1944-48
16. संक्रान्ति	1969
17. श्रीरामपट्टाभिषेक	1972

नाटक

18. शान्ता	1923
19. सावित्री	1923
20. उषा	1927
21. तालीकोटे	1929
22. मंजुला	1..

23 शिव छत्रपति 1932
24. यशोधरा 1933
25 तिरुपाणि 1937
26. काकन कोटे 1938
27 मास्ति 1953
28. अनारकली 1955
29. पुरन्दरदास 1964
30. कनकण्णा 1965
31. भट्टर मगलु 1969
32. वासुति दृश्यगलु
33 कालिदास

व्याख्यान एवं समीक्षा

34 साहित्य 1924
35. कन्नड सेवा 1930
36. कर्नाटकद जनतेय संस्कृति 1931
37. आदिकवि वाल्मीकि 1938
38. ताय्नुडिय तम्मडि 1944
39. भारत तीर्थ 1952
40. कर्नाटकद जनपद साहित्य 1956
41. कन्नड लेंक 1957
42. साहित्यदिंद आगंव केलस 1971
43. विचार 1971
44. विमर्श (चार भागों मे) 1926-65
45. उत्तरकाण्ड विचार (पाँच भाग...) 1946-82

जीवनी

46. रवीन्द्रनाथ ठाकुर 1935
47. श्रीरामकृष्ण 1936
48. भाव (तीन भागों मे) 1968-69
49. नवरत्न रागराव 1976

विविध

50. सृजन 1951

51. चिन्तन 1952
52. नम्म नुडि 1960
53. साहित्य लालने 1967
54 संपादकीय (पाँच भागों में) 1967
55. साहित्य प्रेरणे 1975
56. पत्रगलु 1976
57. अन्तर्गंगे
58. धर्म संरक्षणे

अनुवाद

59. चित्रांगद 1945
60. ह्यामलेट 1958
61. चन्द्र मारन 1959
62. लियर महाराज 1959
63. श्रीकृष्ण-कर्णामृतम् 1959
64. द्वादश-रात्रि 1960
65. शेक्सपियर दृश्यगलु (तीन भागों में) 1962-64
66. संक्षिप्त रामायण

सम्पादित

67. बिज्जिलराय-चरिते 1954
68. कर्नाटक भारत कथामंजरी 1958
69. सर एम. विश्वेश्वरैया 1960
70. रवीन्द्र प्रशस्ति 1962
71. रवीन्द्र पूजन 1963
72. विश्वमानवनेडेगे 1964

अंग्रेजी में

73. Sayings of Basavanna 1935
74. Popular Culture in Karnataka 1937
75. The Poetry of Valmiki 1940
76. Subbanna 1943
77. Ravindranath Tagore 1946
78. Chennabasavanayaka 1957

79 The Mahabharata 1973
80 Rajaji (Two Parts) 1975
81. Essays, Addresses etc. 1975
82. Short Stories (1-5) 1943-68
83 Srimad Bhagavadgita
84. Kalidasa
85. Addresses